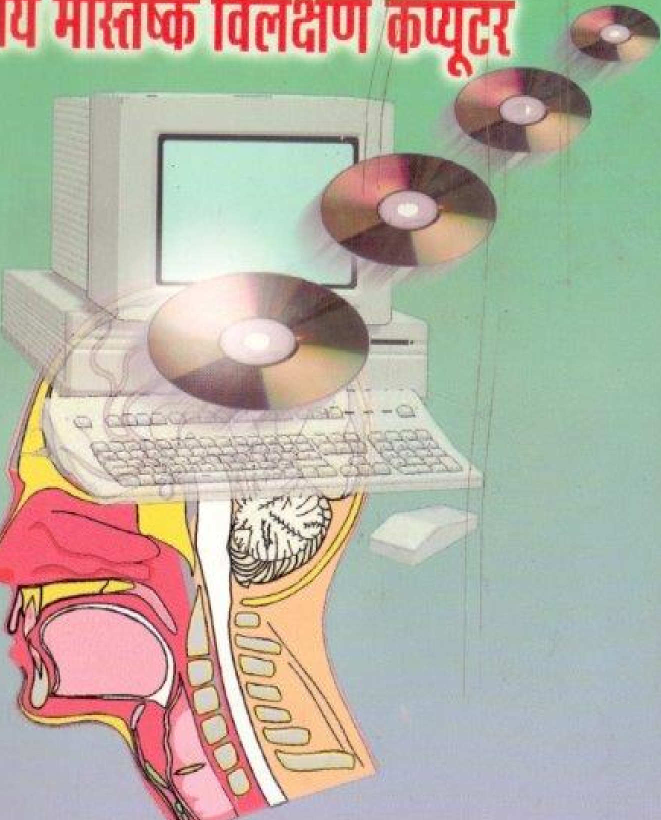
मानवीय मस्तिष्क विलक्षण कंप्यूटर



- पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य

मानवीय मस्तिष्क विलक्षण कंप्यूटर

*

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२००९

मूल्य : २१.०० रुपये

विषय-सूची

देखने, नापने और तौलने में छोटा सा लगने वाला मस्तिष्क, जादुई क्षमताओं और गतिविधियों से भरा पूरा है। उसमें प्रायः दस अरब स्नायु कोष हैं। इनमें प्रत्येक की अपनी विशेषता, अपनी दुनिया और अपनी संभावनाएँ हैं। वे प्रायः अपना अभ्यस्त काम निपटाने भर में दक्ष होते हैं। उनकी अधिकांश क्षमता प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। काम न मिलने पर हर चीज निरर्थक रहती है। इसी प्रकार इन कोषों से दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ पूरा कर सकने के लिए आवश्यक थोड़ा सा काम कर लिया जाता है, तो उतना ही करने में वे दक्ष रहते हैं। यदि अवसर मिला होता, उन्हें उभारा और प्रशिक्षित किया गया होता तो वे अबकी अपेक्षा लाखों गुनी क्षमता प्रदर्शित कर सके होते। अलादीन के चिराग की कहानी कल्पित हो सकती है, पर अपना मस्तिष्क सचमुच जादुई चिराग सिद्ध होता है।

मानवीय मस्तिष्क विलक्षण कंप्यूटर

शरीर से भी विलक्षण मस्तिष्क

यों तों मनुष्य शरीर अपने आप में ही परमात्मा की अद्‌भुत और विलक्षण कृति है। मनुष्य शरीर जैसी समर्थ, सूक्ष्म बारीकियों से बनी हुई और स्वयं संचालित मशीन बना पाना तो दूर रहा, इसकी संरचना को भी अभी समझ पाना संभव नहीं हो सका है। इस विलक्षण और अद्‌भुत यंत्र का संचालन केंद्र है—'मस्तिष्क'। इस मस्तिष्क की रचना मनुष्य शरीर से भी जटिल और विलक्षण है।

खोपड़ी की हड्डी से बनी टोकरी में परमात्मा ने इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री सँजोकर रखी है कि उसे जादू की पिटारी कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। शरीर के अन्य किसी भी अवयव की अपेक्षा उसमें सक्रियता, चेतना और संवदेनशीलता की इतनी अधिक मात्रा है कि उसे मानवीय सत्ता का केंद्र बिंदु कहा जा सकता है। रेलगाड़ी में जो महत्त्व इंजन का है वही अपने शरीर में मस्तिष्क का है। डिब्बों की टूट-फूट हो जाने पर उन्हें सुधारने की या काटकर अलग कर देने की व्यवस्था आसानी से हो जाती है, किंतु यदि इंजन खराब हो जाए तो सुयोग्य इंजीनियर की देख-रेख में साधन-संपन्न कारखाने में ही उसकी मरम्मत हो सकती है। जब तक मरम्मत न हो जाए तब तक रेलगाड़ी जहाँ की तहाँ खड़ी रहेगी, उसका थोड़ी दूर आगे बढ़ सकना भी संभव न होगा।

शरीर में मस्तिष्क का वही स्थान है जो किसी बड़े कारखानों की मशीनों को बिजली सप्लाई करने वाली शक्तिशाली मोटर का। मोटर बंद हो जाए या बिगड़ जाए, तो फिर बिजली के अभाव में सारा कारखाना ही ठप्प हो जायेगा। शरीर के अन्य कलपुर्जों में जो

गतिशीलता दिखाई पड़ती है वह उनकी अपनी नहीं है। मस्तिष्क उन पर पूरी तरह नियंत्रण रखता है। संचालन की प्रेरणा ही नहीं, शक्ति भी वहीं से मिलती है।

मस्तिष्क को दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। एक वह जिसमें मन और बुद्धि काम करती है। सोचने-विचारने, तर्क-विश्लेषण और निर्णय करने की क्षमता इसी में है। दूसरा भाग वह है, जिसमें आदतें संग्रहीत हैं और शरीर के क्रियाकलापों का निर्देश निर्धारण किया जाता है। हमारी नाड़ियों में रक्त बहता है, हृदय धड़कता है, फेफड़े श्वास-प्रश्वास क्रिया में संलग्न रहते हैं, मांसपेशियाँ सिकुड़ती-फैलती हैं, पलक झपकते-खुलते हैं, सोने-जागने का, खाने-पीने और मल-मूत्र त्याग का क्रम अपने ढर्रे पर अपने आप स्वसंचालित ढंग से चलता रहता है। पर यह सब अनायास ही नहीं होता, इसके पीछे वह निरंतर सक्रिय मन नाम की शक्ति काम करती है जिसे अचेतन मस्तिष्क कहते हैं। इसे ढर्रे का मन कह सकते हैं। शरीर के यंत्र अवयव अपना-अपना काम करते रहने योग्य कलपुर्जों से बने हैं, पर उनमें अपने आप संचालित रहने की क्षमता नहीं है, यह शक्ति मस्तिष्क के इसी अचेतन मन से मिलती है। विचारशील मस्तिष्क तो रात में सो जाता है, विश्राम ले लेता है। नशा पीने या बेहोशी की दवा लेने से मूर्च्छा ग्रसित हो जाता है। उन्माद, आवेश आदि रोगों से ग्रसित भी वही होता रहता है। डॉक्टर इसी को निद्रित करके आपरेशन करते हैं। किसी अंग विशेष में सुन्न करने की सुई लगाकर भी इस बुद्धिमान् मस्तिष्क तक सूचना पहुँचाने वाले ज्ञान तंतु संज्ञा शून्य कर दिये जाते हैं, फलतः पीड़ा का अनुभव नहीं होता और आपरेशन हो जाता है। पागलखानों में इस चेतन मस्तिष्क का ही इलाज होता है। अचेतन की एक छोटी परत ही मानसिक अस्पतालों की पकड़ में आई है वे इसे प्रभावित करने में भी थोड़ा-बहुत सफल होते जा रहे हैं, किंतु उसका अधिकांश भाग प्रत्येक नियंत्रण से बाहर है। पागल लोगों के शरीर की भूख, मल-त्याग, श्वास-प्रश्वास,

रक्त-संचार तथा पलक झपकना आदि क्रियाएँ अपने ढंग से होती रहती हैं। मस्तिष्क की विकृति का शरीर के सामान्य क्रम संचालन पर बहुत कम असर पड़ता है।

मस्तिष्क अपने आप तो बहुत कुछ करता है, पर उसका विचारपूर्वक नियंत्रण एवं उपयोग करना बहुत कम लोगों को बहुत थोड़ी मात्रा में आता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि मस्तिष्कीय चेतना पर ८ प्रतिशत नियंत्रण प्राप्त कर सकना प्रगतिशील मनुष्य के लिए अभी तक संभव हो पाया है। उसकी ९२ प्रतिशत शक्ति ऐसी है जिस पर नियंत्रण करना तो दूर उसकी ठीक तरह जानकारी भी प्राप्त नहीं की जा सकी है। मनुष्य की बुद्धिमत्ता, साहसिकता, सूझबूझ की बहुत प्रशंसा की जाती है। अनुशासित मनोभूमि किस प्रकार प्रखर प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व के रूप में विकसित होती है, यह भी सर्वविदित है। इतने पर भी इतना ही कहा माना जाता है कि यह उसकी खोपड़ी में रखी हुई जादुई पिटारी का एक नगण्य सा चमत्कार है। यदि उसे पूरी तरह जाना समझा जा सके, तो अबकी अपेक्षा वह हजारों गुनी अधिक विभूतियों से भरा-पूरा हो सकता है।

लेकिन प्रगति का आधार इसी मस्तिष्कीय स्थिति पर निर्भर है। मूर्ख, मंदबुद्धि और अनपढ़, अविकसित व्यक्ति या तो सुख के साधन कमा ही नहीं पाते और यदि किसी प्रकार मिल भी जाये तो उनका समुचित सदुपयोग करके सुखी रह सकने की व्यवस्था बना नहीं पाते, वे वस्तुएँ या परिस्थितियाँ उनके लिए जाल-जंजाल बन जाती हैं। उपयोग की सही विधि न मालूम होने पर प्रयोग गलत होते हैं और गलती का परिणाम विकृति एवं क्षति ही हो सकती है। संपदाएँ भी अविकसित मनःस्थिति होने पर किसी को कोई सुख नहीं पहुँचा सकतीं। बारूद का खेल करने वाले जिस प्रकार क्षतिग्रस्त होते हैं उसी प्रकार सांसारिक वैभव पाने पर भी मंद बुद्धि लोग लाभान्वित नहीं होते, यों आमतौर से अच्छे सुविधा साधन

मिलना ही उनके लिए कठिन पड़ता है। इसके विपरीत प्रतिभा संपन्न व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में भी अभीष्ट साधन उपलब्ध कर लेते हैं। संपदाएँ पाते हैं, सुख भोगते हैं और गौरवान्वित होते हैं। यह सब मस्तिष्कीय प्रखरता का ही वरदान है।

जिस मस्तिष्क पर हमारा वर्तमान और भविष्य पूरी तरह निर्भर है उसके संबंध में लोग बहुत ही कम जानते हैं, बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि शरीर को परिपुष्ट बनाने के लिए कीमती भोजन जुटाया जाता है, सुंदर बनने के लिए वस्त्राभूषण एवं शृंगार साधनों पर समय तथा धन लगाया जाता है। इंद्रिय तृप्ति के लिए खर्चीले और समय-साध्य साधन जुटाये जाते हैं, अन्यान्य सफलताओं के लिए घनघोर प्रयत्न किये जाते हैं, पर न जाने क्यों यह अनुभव नहीं किया जाता कि मानसिक प्रखरता के बिना सारे काम औंधे सीधे होंगे और उनके कठिन प्रयत्नों के फलस्वरूप जो सामग्री मिलेगी वह आनंददायक न होकर विपत्ति का कारण बनेगी।

मानवीय मस्तिष्क में जितनी किस्म का, जितनी मात्रा में ज्ञान भरा रहता है उसकी तुलना में संसार के बड़े से बड़े पुस्तकालय को भी तुच्छ ठहराया जा सकता है। उलझे हुए प्रश्नों का न्यूनतम समय में उपयुक्त हल निकालने में संसार के किसी सशक्त कंप्यूटर की तुलना उससे नहीं हो सकती। जरा से डिब्बे में भरी हुई यह गुलाबी रंग की कढ़ी इतनी विलक्षण है कि उसकी समानता किसी भी बहुमूल्य रासायनिक पदार्थ से नहीं की जा सकती।

मस्तिष्कीय क्रियाकलाप जिन नर्व सेल्स (तंत्रिका कोशिकाओं) से मिलकर संचालित रहता है, उनकी संख्या प्रायः दस अरब होती है। इन्हें आपस में जोड़ने वाले नर्व फाईवर (तंत्रिका तंतु) और उनके इन्सुलेशन खोपड़ी के भीतर खचाखच भरे हुए हैं। एक तंत्रिका कोशिका का व्यास एक इंच के हजारवें भाग से भी कम है और उसका वजन एक औंस के साठ अरबवें भाग से अधिक नहीं

है। तंत्रिका तंतुओं से होकर बिजली के जो इंपल्स दौड़ते हैं, वही ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से आवश्यक सूचनाएँ उस केंद्र तक पहुँचाते हैं।

इन दस अरब कोशों को अद्भुत विशेषताओं से संपन्न देव-दानव कहा जा सकता है। इनमें से कुछ में तो माइक्रोफिल्मों की तरह न जाने कब-कब की स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं। मोटे तौर पर जिन बातों को हम भूल चुके होते हैं वे भी वस्तुतः विस्मृत नहीं होतीं, वरन् एक कोने में छिपी पड़ी रहती हैं और जब अवसर पाती हैं वर्षा की घास की तरह उभर कर ऊपर आ जाती हैं। केनेडा के स्नायु विशेषज्ञ डॉ० पेनफील्ड ने एक व्यक्ति का एक स्मृति कोश विद्युत् धारा के स्पर्श से उत्तेजित किया। उसने बीस वर्ष पहले देखी हुई फिल्मों के कथानक और गाने ऐसे सुनाये मानो अभी-अभी देखकर आया हो।

इन कोशों से संबंधित नाड़ी तंतु समस्त शरीर में फैले पड़े हैं। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है १—सेंसरी नर्वज-संज्ञा वाहक। २—मोटर नर्वज—गति वाहक। संज्ञा वाहक तंतुओं का संबंध ज्ञानेंद्रियों से होता है। जो कुछ हम देखते, सुनते, चखते, सूँघते और स्पर्शानुभव करते हैं वह इन संज्ञा वाहकों के माध्यम से संपन्न होता है और चलना, फिरना, खाना, नहाना, पढ़ना, लिखना आदि गति वाहकों द्वारा। वे कर्मेंद्रियों को नियंत्रित एवं संचालित करते हैं।

यह मस्तिष्क सामान्य इंद्रियगम्य ज्ञान की जानकारियों तक सीमित है, ऐसा शरीर विज्ञानियों द्वारा कहा जाता रहा है, पर अब न्यूरोलॉजी—पैरा साइकोलाजी-मैटाफिजिक्स विज्ञान के जानकार यह स्वीकार करने लगे हैं कि मानवी मन—विराट् विश्व मन का ही एक अंश है और जो कुछ उस विराट् ब्रह्मांड में हो रहा है या निकट भविष्य में होने जा रहा है उसकी संवेदनाएँ मानवी मन को भी मिल सकती हैं।

पिछले दिनों क्या-क्या हो चुका ? इस समय कहाँ क्या हो रहा है, और निकट भविष्य में क्या होने की संभावनाएँ बन गईं ? उसे जान लेना किसी परिष्कृत मस्तिष्क के लिए संभव है। हाँ—सामान्यतया यह अतींद्रिय अनुभूति प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। केवल वर्तमान से संबंधित प्रत्यक्ष का ही अधिक ज्ञान रहता है, भूतकाल की निज से संबंधित घटनाएँ जब विस्मृत हो जाती हैं, तब अन्यत्र होने वाली घटनाओं की जानकारी तो रहे ही कैसे ? पर यह बात केवल सामान्य स्तर के मस्तिष्कों पर लागू होती है। परिष्कृत मस्तिष्क इससे कहीं ऊँचे उठे हुए होते हैं और वे त्रिकालज्ञ की भूमिका प्रस्तुत कर सकते हैं।

उपलब्ध सूचनाएँ दफ्तर में रिकार्ड बनकर जमा नहीं होती रहतीं, वरन उन पर तत्काल निर्णय करना होता है। इसके लिए सूचना कितने ही दफ्तरों, कितने ही अफसरों के सामने से गुजरती हुई, उनको परामर्श, निर्देश नोट कराती हुई संबद्ध अवयवों को सूचना देती है कि उन्हें इस संदर्भ में क्या करना है। आदेश ही नहीं, आवश्यक साधन जुटाने की व्यवस्था भी इसी केंद्रीय निर्देशालय से होती है। इंद्रियों द्वारा उपलब्ध सूचनाएँ और विचारों की हलचलें हर क्षण मस्तिष्क को इतना अधिक कार्य व्यस्त रखती हैं कि इस सक्रियता पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर भीतर चल रही हलचलों के जो चित्र इलेक्ट्रोएन्सेफेलोग्राम तैयार किये जाते हैं, उन्हें विद्युतीय तूफान की तरह देखा जा सकता है।

बच्चों को मस्तिष्क की जानकारी टेलीफोन एक्सचेंज का उदाहरण देकर कराई जाती है। बड़ों को उसे समझाना हो तो यों कहना चाहिए कि यदि अपने टेलीफोन का संबंध संसार के समस्त टेलीफोनों से हो, अपनी बात समस्त टेलीफोनों से सुनी जाए और उनके उत्तर एक साथ प्राप्त हों, सुने-समझे जायें तो उस स्थिति की तुलना मस्तिष्कीय क्रियाकलाप से की जा सकती है।

मानव निर्मित सर्वोत्तम कंप्यूटर में अधिक से अधिक दस लाख इकाइयाँ होती हैं और प्रत्येक इकाई के पाँच-छह से अधिक संपर्क सूत्र नहीं होते किंतु मस्तिष्क में दस अरब कोशिकाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक के लाखों-लाख संपर्क सूत्र हैं। साथ ही प्रत्येक में जैव रसायनों के सम्मिश्रण में भारी भिन्नता भी है। घटित होने वाली घटनाएँ और इंद्रिय संस्थानों द्वारा प्राप्त सूचनाओं का निपटारा एक अलग और सामयिक कार्य है। इसके अतिरिक्त श्वासोच्छ्वास, निद्रा, जागरण, हृदय की धड़कन, रक्त संचार, पेशियों का आकुंचन- प्रकुंचन, शरीर कोशिकाओं का जीवन-मरण आदि शरीर संचालन के इतने अधिक कार्य हैं जिन्हें बारीकी से देखने पर समस्त संसार की सरकारों की संयुक्त व्यवस्था से भी अधिक सुविस्तृत ठहराया जायेगा।

शरीर गत आवश्यकताओं और इनकी पूर्ति की क्रिया-व्यवस्था मस्तिष्क का जो छोटा-सा भाग सँभालता है, उसे "हाइपोथैलमस" कहते हैं। भूख, प्यास, नींद, मल विसर्जन, पाचन आदि अनेकों क्रिया-कलाप इसी केंद्र से संचालित एवं व्यवस्थित किये जाते हैं। मस्तिष्क के पिछले भाग में गुंबदाकार अंग "सेरिबेलम" इन हलचलों को परस्पर संबद्ध करने वाले असंख्य सूत्रों को शृंखलाबद्ध करता है।

'चिंतन' का ज्ञान, स्मृति, बुद्धि, विवेचन, इच्छा आदि का कार्य-भार सँभालने वाला अत्यंत विकसित भाग "सेरिब्रल कॉर्टेक्स" कहलाता है। मस्तिष्कीय द्रव्य से बनी हुई यह झुर्रीकार परत मस्तिष्क के अग्रभाग और पार्श्वों में लिपटी हुई है। इसकी मोटाई प्रायः एक मिली मीटर है। सूचनाओं का ग्रहण और निर्देशों का प्रसारण करने में इस पट्टी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

तंत्रिका कोशाणु एक सफेद धागेयुक्त तंतु होता है। यह तंतु अन्यान्य न्यूरोनों से जुड़ा होता है। इस प्रकार पूरा मस्तिष्क इन परस्पर जुड़े हुए धागों का एक तंतु जाल बना हुआ है। इन्हीं सूत्रों

से वे परस्पर संबद्ध रहते हैं और अपने कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्वाह परस्पर मिल-जुलकर करते हैं।

प्रत्येक प्रौढ़ मस्तिष्क प्रायः २० वाट विद्युत् शक्ति से चलता है। कुछ कोषाणु विशेष रूप से इस बिजली को उत्पन्न करने का काम करते हैं और शेष उसका उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, वह एक सूक्ष्म डायनामा है। ग्लूकोज और ऑक्सीजन का रासायनिक ईंधन जलाकर उसकी ऊर्जा को वे बिजली में परिवर्तित करते हैं। कामचलाऊ मात्रा में वह कोषाणुओं को शक्ति प्रदान करती है और यदि उसकी अनावश्यक मात्रा बन गई है तो स्वयं ही विसर्जित हो जाती है। उसका चार्ज-डिस्चार्ज शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। इलेक्ट्रोऐन्सेफेलोग्राफ की सहायता से यह जाना जा सकता है कि इस बिजली का उत्पादन और उपभोग कहाँ, किस मात्रा में हो रहा है। इसमें घट-बढ़ हो जाने से मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मानसिक संतुलन बिगड़ने से इन विद्युत् धाराओं में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

सन् १९६८ में यूनेस्को द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मस्तिष्क सम्मेलन आयोजित किया गया था और संसार के विचारशील लोगों का ध्यान मस्तिष्कीय सुरक्षा एवं प्रगति की ओर आकर्षित किया था। इंटरनेशनल सोसाइटी फॉरन्यूरो-कैमिस्ट्री, ब्रेन एण्ड बिहेवियर सोसाइटी, ब्रेन रिसर्च एसोसियेशन जैसी संस्थाओं ने उस वर्ष मस्तिष्कीय गरिमा, संभावना, सुरक्षा एवं प्रगति के संबंध में अधिक उत्साहपूर्वक काम किया था और जो कार्य वैज्ञानिक क्षेत्रों में अब तक इस दिशा में हो चुका है, उसका परिचय जनता को कराया था। इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ न्यूरो बायोलॉजी, ब्रेन रिसर्च जनरल ऑफ न्यूरोबायोलॉजी जैसी विज्ञान पत्रिकाओं ने भी अति महत्त्वपूर्ण लेख उस वर्ष प्रकाशित करके वैज्ञानिकों, सरकारों एवं विचारशील लोगों को यह सुझाव दिया था कि मस्तिष्कीय गरिमा को अधिक

गंभीरतापूर्वक अनुभव किया जाए और उसे परिष्कृत करने की दिशा में अधिक काम किया जाए।

मानवीय मस्तिष्क तीन पौंड से भी कम वजन का—अखरोट जैसी आकृति का—दो गोलार्धों में बँटा हुआ अनेक घुमावों वाला मांस पिंड है। एक को सेरिब्रॅम दूसरे को सेरिबेलम कहते हैं। तांत्रिकी कोशिकाओं से बना धूसर द्रव्य वाला यह पदार्थ सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखने पर चित्र-विचित्र कोशिकाओं का रेगिस्तान जैसा लगता है, इसके सारे कल-पुर्जे इस प्रकार तुड़े-मुड़े रखे हैं मानो वे आगे बढ़ना चाहते हों, पर खोपड़ी की हड्डी ने उन्हें रोक दिया हो और वे मुड़-तुड़कर गर्भस्थ बालक की तरह किसी प्रकार गुजारा कर रहे हों।

तीन महीने के भ्रूण का दिमाग मात्र पाँच ग्राम का होता है। छह महीने का होने तक वह सौ ग्राम हो जाता है। जन्मते समय ३५० ग्राम का होता है। यह प्रौढ़ मनुष्य के मस्तिष्क का एक चौथाई है। अंततः मस्तिष्क चौदह सौ ग्राम तक जा पहुँचता है। इससे प्रगट है कि आरंभिक जीवन में मस्तिष्कीय विकास कितनी तेजी से होता है और पीछे वह कितना धीमा पड़ जाता है ? छह साल के बच्चे का दिमाग प्रौढ़ता की स्थिति का पंचानबे प्रतिशत होता है। बीस वर्ष की आयु तक विकास पूर्ण हो जाता है। पीछे तो वह परिपक्व और परिष्कृत भर होता रहता है।

पुरुष की तुलना में स्त्रियों का मस्तिष्क १०० ग्राम हल्का होता है। पर उसमें शारीरिक वजन का अनुपात भर मानना चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा वजन में हल्की होती हैं तदनुरूप मस्तिष्क भी हल्का होता है। वजन के आधार पर किसी को विकसित अथवा अविकसित नहीं ठहराया जा सकता। संसार के प्राणियों में सबसे भारी मस्तिष्क ह्वेल मछली का ७००० ग्राम का होता है, इसके बाद ५००० ग्राम हाथी का होता है। क्या उन्हें १४०० ग्राम वाले मनुष्य से अधिक बुद्धिमान् कहें ? संसार भर में सबसे अधिक हल्की अपने

नाटे कद के कारण जापानी महिलाएँ होती हैं, उनका वजन औसतन ५० ग्राम कम अर्थात् १२५० ग्राम होता है, फिर भी वे संसार में कहीं की भी नारियों से कम बुद्धिमान् नहीं होती हैं। वे अपने समाज में पुरुषों से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं होतीं।

कुछ समय पूर्व बंबई के एक विद्वान् वी० जे० रेले ने एक पुस्तक लिखी थी—"दी वैदिक गॉड्स एज फिगर्स ऑफ बायोलॉजी"—उसमें उसने सिद्ध किया था कि वेदों में वर्णित आदित्य, वरुण, अग्नि, मरुत्, मित्र, अश्विनी, रुद्र आदि मस्तिष्क के स्थान विशेष में सन्निहित दिव्य शक्तियाँ हैं जिन्हें जाग्रत् करके विशिष्ट क्षमता संपन्न बनाया जा सकता है।

ग्रांट मेडिकल कॉलेज के प्राध्यापक वाई० जी० नाडगिर और एडगर जे० टामस ने संयुक्त रूप से पुस्तक की भूमिका लिखते हुए कहा है कि वैदिक ऋषियों के शरीरशास्त्र संबंधी गहन ज्ञान पर अचंभा होता है कि उस साधन हीन समय में किस प्रकार उन्होंने इतनी गहरी जानकारियाँ प्राप्त की होंगी ? आँख की सीप में ऊपर के मस्तिष्क का भाग वृहत् मस्तिष्क कहलाता है। वही सेरिबेलम-ब्रह्म चेतना शक्ति का केंद्र है, इंद्र और सविता यहीं निवास करते हैं। नाक की सीध में सिर के पीछे वाला भाग—सेरिबेलम—अनुमस्तिष्क—रुद्र और पूषन देवता का कार्य क्षेत्र है, मस्तिष्क का ऊपरी भाग—रोदसी, मध्य भाग अंतरिक्ष और निम्न भाग पृथ्वी बतलाया गया है। रोदसी से दिव्य चेतना का प्रवाह—अंतरिक्ष में ग्रह-नक्षत्रों वाला ब्रह्मांड और पृथ्वी से अपने लोक में काम कर रही भौतिक शक्तियों का सूत्र संबंध जुड़ा रहता है। सप्तधार, सोम, वरुण, अग्नि, स्वर्ग द्वार, अत्रि, द्रोण, क्लश एवं अश्विनी शक्तियों का संबंध रोदसी क्षेत्र से है।

अग्नि से नीचे वाले भाग को स्वर्ग द्वार और उससे नीचे वाले भाग को द्रोण कलश कहा गया है, जहाँ से सप्तसरिताएँ—सात नदियाँ बहती हैं। द्रोण कलश में सोमरस भरा रहता है, जिसके आधार पर

स्नायु केंद्रों को शक्ति प्राप्त होती है। मेरुरज्जुओं के साथ बँधे हुए दो ग्रंथि गुच्छक अश्विनीकुमार बताये गये हैं। मस्तिष्क की परिधि को घेरे हुए एक विशेष द्रव संपूर्ण मस्तिष्क को चेतना प्रदान करता है, इसी को वरुण कहते हैं। इसी केंद्र में अग्नि देवता का ज्ञानकोष है। मस्तिष्क के पिछले भाग में अवस्थित "टेंपोलर लोव" प्राचीन काल का शंख पालि है। इसके नीचे की पीयूष ग्रंथियाँ जिन्हें मेडुला भी कहते हैं, अश्वमेध यज्ञ की वेदी है। अश्वमेध अर्थात् इंद्रिय परिष्कार इसके लिए पीयूष ग्रंथि वाला क्षेत्र ही उत्तरदायी है।

देवताओं की चमत्कारी शक्तियों का साधना विज्ञान के अंतर्गत विस्तृत वर्णन किया गया है, वस्तुतः वह अपने भीतर मस्तिष्कीय क्षेत्र में सन्निहित दिव्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें अनुकूल बनाकर वे सभी लाभ-वरदान प्राप्त किये जा सकते हैं, जो देव अनुग्रह से मिलने वाली ऋद्धि-सिद्धियों के रूप के कहे समझे जाते हैं।

➢ अचेतन ही नहीं मस्तिष्क अतींद्रिय भी

भौतिक जानकारी संग्रह करने वाले चेतन मस्तिष्क और स्वसंचालित नाड़ी संस्थान को प्रभावित करने वाले अचेतन मस्तिष्क तक का ही ज्ञान अभी विज्ञान क्षेत्र की परिधि में आया है; पर अब अतींद्रिय मस्तिष्क के अस्तित्व को भी स्वीकारा जा रहा है, क्योंकि बहुत सी ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं, जिनसे भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास मिलने और उसके अक्षरशः सही उतरने के प्रमाण मिलते हैं। यह प्रभाव इतने स्पष्ट और इतने प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किये गये होते हैं कि उनमें किसी प्रकार के संदेह की गुँजायश नहीं रह जाती।

अतींद्रिय चेतना का मानवी सत्ता में अस्तित्व स्वीकार किये बिना इन भविष्यवाणियों का और कोई कारण नहीं रह जाता। योगी और सिद्ध पुरुष जिस दिव्य चेतना को अपनी तप साधना के माध्यम से विकसित करते हैं, वह कई बार कई व्यक्तियों में

अनायास और जन्मजात स्तर पर भी पाई जाती है। इस सत्ता का विकास करके मनुष्य सीमित परिधि के बंधन काटकर असीम के साथ अपने संबंध मिला सकता है और अपनी ज्ञान परिधि को उतनी ही विस्तृत बना सकता है। समय-समय पर इस प्रकार के जो प्रमाण मिलते रहते हैं, उनसे उस संभावना को और भी अधिक बल मिलता है कि आत्म विकास के प्रयत्न मनुष्य को कहीं से कहीं पहुँचा सकने में समर्थ हैं।

अतींद्रिय ज्ञान के संबंध में कई प्रामाणिक ग्रंथ पाये जाते हैं। उनमें कुछ यह है—(१) टी० लोव संग रंपा कृत—थर्ड आई (२) सुग्र अल जहीर द्वारा लिखित-मठभूमि की आध्यात्मिक यात्रा। डेनियल बारे लिखित—(३) दी मेकर ऑफ हैवनली ट्रेइजर्स। इन पुस्तकों में लेखकों ने अपनी निजी दिव्य अनुभूतियों के वे वर्णन लिखे हैं जो उन्होंने आज्ञा चक्र स्थित तीसरे नेत्र से देखे और परीक्षा की कसौटी पर पूर्णतया खरे उतरे। भ्रूमध्य भाग में अवस्थित तीसरा नेत्र देवी-देवताओं के ही नहीं—मनुष्य के भी होता है और वह उसे विकसित करके दिव्यदर्शी बन सकता है।

उपरोक्त लेखकों द्वारा उल्लेखित घटनाओं और विवरणों के अनुसार यह अतींद्रिय क्षमता मस्तिष्क के उच्चतम विकास के कारण ही प्राप्त हुई है। डेनियल ने अपनी पुस्तक "द मैकर ऑफ हैवनली ट्रेजर्स" में लिखा है कि साधारण मनुष्यों से अलग और विलक्षण मस्तिष्कीय क्षमताओं वाले जितने भी व्यक्ति प्रकाश में आये हैं, उनकी विशेषताओं का मूल उनके मानसिक विकास पर निर्भर करता है। यह विकास कई बार तो जन्मांतरों की मानसिक प्रगति के कारण छोटी आयु में अनायास ही हो जाता है, किंतु इस विकासक्रम का मार्ग अवरुद्ध किसी के लिए भी नहीं है। प्रयत्न पूर्वक कोई भी अपनी मानसिक क्षमताओं का क्रमिक विकास करते हुए उन्हें उच्च स्तर तक पहुँचा सकता है।

एक विशेषज्ञ के अनुसार यदि संसार भर के विद्युतीय संयंत्र इकट्ठे कर लिये जाएँ और उन उपकरणों की समस्त पेचीदगी इकट्ठी कर ली जाए तो वह उस पेचीदगी से कहीं कम प्रतीत होगी, जो मानवी-मस्तिष्क में भरे साढ़े चार पाव 'ग्रे मेटर' में भरी पड़ी है।

मस्तिष्क का सामने वाला भाग सेरिब्रम संवेदनाओं और इच्छाओं का केंद्र है। बुद्धि, विचारशीलता और भावनाएँ भी यहीं उत्पन्न होती है। मस्तिष्क का पिछला हिस्सा 'सेरिबेलम' कहा जाता है। यह शरीर के संतुलन को बनाये रखने की तथा विभिन्न अवयवों की गतिविधियों को स्वसंचालित रखने की भूमिका संपादित करता है। हमारी सहज क्रियाएँ—रिफ्लैक्स एक्शन का नियंत्रण भी यहीं से होता है। मस्तिष्क का तीसरा भाग जिसको "मेडुला ऑब्लॉगेंटा" कहते हैं, अंगों की स्वसंचालित-प्रक्रिया का अधिष्ठाता है।

मस्तिष्क का एक और भी वर्गीकरण हो सकता है। भूरा पदार्थ बुद्धि का और सफेद पदार्थ क्रिया का संचालन करता है। मस्तिष्क का दाहिना भाग शरीर के बायें भाग का और बाँया भाग शरीर के दाहिने भाग का संचालन करता है।

यह मस्तिष्कीय संरचना अपने आप में पूर्ण है। उसमें स्वावलंबन की और घात-प्रतिघात सहने की अद्‌भुत क्षमता मौजूद है। बाहरी पोषण से अथवा मानसिक व्यायामों से वह विकसित हो सकता है और अवरोधों का सामना करने के लिए अभ्यस्त हो सकता है। किंतु ऐसा कुछ न भी किया जाये तो भी वह अपनी समर्थता का कई बार अनायास ही ऐसा परिचय देता है, जिसे देखकर उसकी आत्म-निर्भरता को स्वीकार करना पड़ता है। निद्रा को मस्तिष्क की खुराक माना जाता है और कहा जाता है कि यदि मनुष्य सोये नहीं तो जल्दी ही पागल हो जायेगा या मर जायेगा। पर ऐसे अनेक प्रमाण मौजूद हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क

निद्रा आदि किसी सुविधा की परवाह न करके अपने बलबूते—अपना काम भली प्रकार चलाता रह सकता है।

इंग्लैंड के एक जे० डब्ल्यू० स्मिथ नामक ७६ वर्षीय किसान की निद्रा उसकी १८ वर्ष की आयु में किसी बीमारी के कारण सदा के लिए नष्ट हो गई और इसके बाद वह कभी भी नहीं सोया। ५८ वर्ष तक बिना निद्रा के भी उसका काम बिना रुकावट के चलता रहा।

स्पेन के अर्नेस्टो यअर्स कृषि-फार्म में काम करने वाले लोर्टन मेडिना की आयु जब ७० वर्ष की थी। तब वे विगत ५० वर्ष से नहीं सोये। इससे उनकी मुस्तैदी में कमी नहीं आई। दिन भर खेत पर काम करते हैं और रात को जागते रहने के कारण वे ही चौकीदार की आवश्यकता भी पूरी करते रहे। जब थकान आती तो थोड़ा लेट भर लेते, उतने से ही उनका काम चल जाता। स्पेन के स्वास्थ्य-विभाग ने उनके मरण उपरांत मस्तिष्क की चीर-फाड़ करके अनिद्रा के कारण और उसकी क्षति-पूर्ति होते रहने की विशेषता जानने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

पूर्वी पटेल नगर दिल्ली में बाबा रामसिंह नामक एक शतायु सज्जन बच्चों की कापी-पेंसिल जैसी चीजों की दुकान चलाते थे। उनका कथन था कि गत २२ वर्ष से एक क्षण के लिए भी नहीं सोये। इस बात की पुष्टि उस मुहल्ले के सभी लोग करते थे, जो रात-बिरात उधर से निकलने पर उन्हें बैठा, गुनगुनाता या कुछ न कुछ खटपट करते देखा करते थे।

➢ उपेक्षा न कीजिए

फ्रांसीसी वैज्ञानिक प्रो० देल्गादो ने बताया है कि नसों में रक्त चढ़ाने जैसा ही सहज कार्य मस्तिष्क में इच्छानुकूल आदतों का प्रवेश करा सकना भी है और अगले दिनों ही यह सहज संभव

होगा कि प्रवृत्तियों और अभ्यासों की वैसी ही काट-छाँट की जा सके, जैसे अभी फोड़े-फुंसियों की होती है।

यह जानने की दिशा में तेजी से कार्य हो रहा है कि मस्तिष्क के किस स्थान पर—किस प्रकार की क्षमता के संचालक-नियामक केंद्र हैं। मस्तिष्क में गहरी दबी पड़ी विस्मृतियों को बिजली के झटके देकर ताजी बनाया जा सकता है, जिससे लगने लगे कि संबंधित घटना अभी-अभी घटित हुई है। कनाडा के मनोवैज्ञानिक डॉ० डब्ल्यू० जी० पेनफील्ड ऐसे इलेक्ट्रोड खोजने में सफल हुए हैं, जिनका स्थान विशेष की कुछ विशेष कोशिकाओं से संबंध जोड़ने पर मनुष्य अतीत की घटनाएँ अपने सामने पुनः घटित हो रही सी ही ताजी अनुभव कर सकता है। विगत संवादों, विवादों, चर्चाओं आदि को भी तत्काल संपन्न अनुभव कर सकता है।

स्नायु विज्ञानी काल लैसले ने खोज की है कि मस्तिष्क के किस स्तर पर किस शक्ति से कितना विद्युत् प्रवाह किये जाने पर किस काल खंड की (पुरानी से पुरानी) किस किस्म की स्मृतियाँ ताजी हो सकती हैं। मैकगिल विश्वविद्यालय, मांट्रीयल (कनाडा) के डॉ० विल्डर पेनफील्ड ने विचार, ध्वनि और दृश्य का संबंध स्थापित करते हुए उस दिशा में प्रगति की संभावना व्यक्त की है, जहाँ लोगों के मस्तिष्क निर्दिष्ट चिंतन के लिए प्रेरित-प्रशिक्षित किये जा सकेंगे। कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालाजी के डॉ० रोगर स्पेरी ने सुदीर्घ काल से संचित आदतों-अभ्यासों से मुक्त होने तथा सर्वथा नये अभ्यासों को गहराई से अपना लेने के लिए मस्तिष्क को प्रेरित कर सकने के अपने प्रयोगों में सफलता प्राप्त की है।

स्वीडन के डॉ० हाल्गार हाइडन ने अपने प्रयोगों द्वारा पाया कि मस्तिष्कीय चेतना के आधार स्तंभ रिवोन्यूक्लिक एसिड (आर० एन० ए०) नामक रसायन की मात्रा को चेतना की विभिन्न

परतों में घटा-बढ़ाकर प्राणियों के चिंतन की विधि एवं दिशा में परिवर्तन संभव है।

जीवशास्त्री जेम्स ओल्डस ने चूहों के मस्तिष्क पर आंशिक नियंत्रण की प्रक्रिया खोज निकाली और उनके मस्तिष्क से बिल्लियों के प्रति भय का भाव निकाल दिया। परिणाम यह हुआ कि वे चूहे बिल्लियों की पीठ पर बेझिझक चढ़ने-दौड़ने लगे। उनके प्रति भय का भाव ही विदा हो गया और वे बिल्लियों को अपने हितैषी वर्ग का मानने लगे।

डॉ० डी० एलबर्ट ने भी चूहों पर ही प्रयोग किया और उनकी एक ऐसी जाति पैदा की, जो रूपाकार में तो वैसी ही है, पर कार्य विधि एवं चिंतन विधि में सर्वथा नयी हैं। डॉ० जे० वी० ल्यूको ने यही प्रयोग तिलचट्टों के साथ किया। डॉ० राबर्ट थामसन ने यही प्रयोग 'प्लेरियन' नामक कीड़े पर किये हैं। यह आध इंच आकार का जलचर कीड़ा है, इसे रेडियो संकेतों के सहारे कुछ भी करने के लिए विवश करना पूरी तरह संभव हो गया है।

मस्तिष्क का बहिरंग और अंतरंग संरचना में संबंध में अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक जान लिया गया है। एक समय था जब मस्तिष्क के भीतर भरी वसा कोशिकाएँ, तंत्रिकाएँ ही चिंतन की आधारशिला मानी जाती रहीं और समझा जाता रहा कि जिसका मस्तिष्क जितना भारी और बड़ा होगा वह उतना ही बुद्धिमान् होगा। इस मान्यता के कारण मस्तिष्क के स्वरूप का विकास करने के लिए ऐसी औषधियों और खाद्य-पदार्थों का सरंजाम जुटाया जाता रहा, जो उस अवयव को परिपुष्ट बनाने में सहायक सिद्ध हो सके। अब वह अध्ययन समाप्त होने जा रहा है और समझा जा रहा है कि इस संस्थान के अंतरंग क्षेत्र में काम करने वाली विद्युत् शक्ति ही विचार शक्ति बनती है। इस विद्युत् को लगभग उसी स्तर की भौतिक विद्युत् द्वारा प्रभावित किया जा

सकता है और चिंतन के बांहरी दबाव से उभारा या दबाया जा सकता है।

कपाल के भीतर भरी मज्जा के अंतर्गत सूक्ष्म घटक जो 'न्यूरान' कहलाते हैं, जितने अधिक सूक्ष्म व सक्षम होते हैं, बुद्धिमत्ता का विकास उसी अनुपात से होता है। ये घटक अगणित वर्ग के हैं और इन्हीं वर्गों के विकास पर मानसिक गतिविधियों का निर्धारण, निर्देशन होता है। समझदारी का संबंध इस बात से है कि ये सूक्ष्म घटक "न्यूरान" कितने हैं और परस्पर कितनी सघनता से संबद्ध हैं।

मानव मस्तिष्क में प्रायः १ खरब ४ अरब न्यूरान होते हैं। प्रत्येक न्यूरान स्वयं का काम तो करता ही है, दूसरे न्यूरानों के कार्य में भी भारी योगदान करता है।

मनुष्य की बुद्धिमत्ता पिछले हजारों वर्षों में लगातार बढ़ी है, किंतु उसमें मस्तिष्क के आकार और भार में कोई खास फर्क नहीं आया है। यदि वजन और विस्तार के अनुसार बुद्धिमत्ता होती तब तो अब तक मस्तिष्क आदमी के शरीर का बहुत बड़ा हिस्सा बन गया होता।

मस्तिष्कीय कणों का मध्यवर्ती न्यूक्लिक एसिड रासायनिक बैटरी का काम करता है तथा मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार के, विभिन्न स्तरों के संवेग और संवेदनाएँ एक विद्युत् संवेग के रूप में उत्पन्न करता एवं उस विद्युत् संवेग को नियंत्रित भी करता है। इस न्यूक्लिक अम्ल के समुचित उत्पादन के लिए मैग्नेशियम पेंसिलीन खोजी गई है। केन्सास विश्वविद्यालय के रसायनवेत्ताओं ने कुछ प्रोटीन एटम्स भी इसी हेतु ढूँढे हैं।

मस्तिष्कीय कोशिकाओं के अलावा संबंध सूत्रों को जोड़ता है एक विद्युत्-प्रवाह। यह प्रवाह मनःश्चेतना की इच्छानुसार मस्तिष्क की विभिन्न परतों में तीव्र गति से कौंधता है और अरबों कोशिकाओं में बिखरी पड़ी क्षमताओं की स्मृतियों में से अमुक क्षण विशेष में

आवश्यक तथ्य ढूँढ़ लाता है। यह विद्युत्-प्रवाह जितना ही सुव्यवस्थित, द्रुतगामी एवं संवेदनशील होगा, मनुष्य उतना ही कुशल व बुद्धिमान् होगा। यह प्रवाह धीमा रुका-सा चले तो मनुष्य अस्त-व्यस्त, भुलक्कड़, मंदबुद्धि बन जायेगा।

मस्तिष्क को मेरुदंड से जोड़ने वाले रेक्टिक्युलर फार्मेशन की गतिविधियों को जितनी अधिक मात्रा में समझा और प्रभावित किया जा सकेगा उतनी ही मानवीय संवेदनाएँ नियंत्रित हो सकेंगी। बिना किसी घटना या उपलब्धि में भी इस नियंत्रण द्वारा हर्ष, शोक आदि की अनुभूतियों की तरंगें दौड़ाई, अनुभव कराई जा सकती हैं।

मात्र विद्युत् शक्ति से—रेडियो ऊर्जा से ही नहीं, यह कार्य रासायनिक पदार्थों, औषधियों के सहारे भी एक सीमा तक संभव हो सकता है। नशे का प्रभाव बहुत पहले ही विदित है, अब रासायनिक पदार्थों से चिंतन को मोड़ने-मरोड़ने और इच्छित प्रयोजन की दिशा में घसीट ले जाने में भी सफल बनाया जा सकता है।

रूसी वैज्ञानिक प्रो० एनोखोव ने एमीनोजाइन नामक एक दवा तैयार की है, जो रेक्टिक्युलर फार्मेशन में स्थित पीड़ा-संवेदन केंद्र को जकड़ लेती है। इससे पीड़ित अंगों में होने वाले दर्द की, रोगी को अनुभूति नहीं होती। भले ही शरीर का कोई मांस काट डाले, तो भी दर्द न होगा। इसके लिए निद्रा लानी आवश्यक नहीं। यह एड्रेनेलीन वर्ग की औषधि कहलाती है। इसके प्रयोग से प्रसव, साइटिका, तीव्र उदरशूल, सिरदर्द आदि रहते हुए भी आदमी को कोई कष्ट न अनुभव होगा और वह अपना काम निपटाता रहेगा। जब आपरेशन आदि की जरूरत पड़े भी तो वह भी बिना किसी कष्ट के सरलता से संपन्न हो सकेगा। चीर-फाड़, प्लास्टिक सर्जरी, अंगों का प्रत्यारोपण, विकिरण आदि के क्षेत्र में जिस प्रकार प्रगति होती रही हैं, उसी तरह मनोरोगों, मनोव्यथाओं से मुक्ति की दिशा

में भी प्रयास हो रहे हैं। साथ ही मन को निर्दिष्ट दिशा में बहाया जा सके, इसके प्रयोग भी प्रगति पर हैं।

नवीनतम शोधें भी यह बताती हैं कि बीमारियों के कारण मात्र विषाणुओं को, प्रकृति की प्रतिकूलता को अथवा आहार-विहार की अस्त-व्यस्तता तक सीमित मान बैठना उचित नहीं। वस्तुतः रोगों का बहुत बड़ा कारण मनुष्य की मानसिक विकृतियाँ होती हैं। मनोविकारों का आरोग्य पर जितना घातक प्रभाव पड़ता है उतना और किसी का नहीं। यदि क्रोध, चिंता, भय, निराशा, आशंका, ईर्ष्या जैसे आवेशों से मस्तिष्क भरा रहे तो स्वास्थ्य-संरक्षण की सारी सुविधाएँ रहने पर भी निरोग रह सकना संभव न होगा। इसके विपरीत-निश्चिंत, निर्भय, साहसी और मस्त तबियत का आदमी अपनी व्यथाओं का बिना उपचार के अनायास ही आधा निवारण कर लेता है। दीर्घजीवन के अनेकों आधार बताये जाते हैं, उनमें सबसे बड़ा कारण है—जीवनेच्छा की प्रबलता। जो अपनी जिंदगी को समाप्त हुआ नहीं मानता, देर तक जीने पर गहरा विश्वास रखता है, वह कष्ट-साध्य और असाध्य रोगों से देर तक लड़ता रह सकता है और भयावह संकट को परास्त भी कर सकता है।

मनोविज्ञानी डॉ० ले का कथन है—"क्रोधी और झगड़ालू मनुष्यों के शरीर में आवेशजन्य उत्तेजन से एड्रेनेलिन पैदा होता है और वह रक्त में मिलकर पहले तो कई तरह की हानियाँ पहुँचाता है, पीछे नशे सेवन करने वालों की तरह वह विष ही शरीर की एक भूख बन जाता है। उसके बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी दशा में उस व्यक्ति की अंत चेतना किसी से न किसी से झगड़ा करने की प्रेरणा करती है और वह मनुष्य कोई न कोई बहाना किसी से लड़ने का ढूँढ निकालता है। आये दिन बातों ही बातों में लड़ाई करने के लिए उसे आकुलता बनी रहती है। क्रोध के कारण शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक हानियों की बात तो अलग रही—यह न छूटने वाली झगड़ने की आदत इतनी बड़ी

हानि है, जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य और संतुलन ही नहीं, समग्र व्यक्तित्व नष्ट होता चला जाता है।"

यही बात अन्यान्य मनोविकारों पर लागू होती है, वे इतना अधिक अहित करते हैं, जिनकी तुलना किसी भी बाहरी शत्रु के भयानक आक्रमण से नहीं की जा सकती। इसके विपरीत यदि मानसिक-संतुलन ठीक से बना रहे, तो मूर्ख मनुष्य बुद्धिमान् बन सकता है और प्रगति के अवरुद्ध मार्गों को खोल सकता है।

उपेक्षा में पड़ी हर वस्तु नष्ट होती चली जाती हैं। मस्तिष्क के संबंध में भी यही होता है। हम चेहरे की सुंदरता बनाये रखने के लिए जितना प्रयत्न करते हैं, यदि उससे आधा प्रयास भी मस्तिष्कीय क्षमता को समझने और उसे सुसंतुलित, समुन्नत बनाने के लिए करते रहें तो निस्संदेह हमारी अंतर्निहित क्षमताओं का सहज ही विकास हो सकता है और उस आधार पर हम अभीष्ट दिशा में आशातीत प्रगति कर सकते हैं।

□ □

मस्तिष्क एक जादुई पिटारा

देखने, नापने और तौलने में छोटा-सा लगने वाला मस्तिष्क जादुई क्षमताओं और गतिविधियों से भरा-पूरा है। उसमें प्रायः दस अरब स्नायु कोष हैं। इनमें प्रत्येक की अपनी दुनिया, अपनी विशेषता और अपनी संभावनाएँ हैं। वे प्रायः अपना अभ्यस्त काम निपटाने भर में दक्ष होते हैं। उनकी अधिकांश क्षमता प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। काम न मिलने पर हर चीज निरर्थक रहती है। इसी प्रकार इन कोषों से दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ पूरा कर सकने के लिए आवश्यक थोड़ा सा काम कर लिया जाता है तो उतना ही करने में वे दक्ष रहते हैं। यदि अवसर मिला होता, उन्हें उभारा और प्रशिक्षित किया गया होता, तो वे अब की अपेक्षा लाखों गुनी क्षमता प्रदर्शित कर सके होते। अलादीन के चिराग की कहानी कल्पित हो सकती है, पर अपना मस्तिष्क सचमुच जादुई चिराग सिद्ध होता है।

यह मस्तिष्क मात्र रासायनिक पदार्थों से बना हुआ मांस पिंड भर नहीं है। बाहर से मस्तिष्क का आकार चाहे जो दिखाई दे उसकी विलक्षण विशेषताएँ आंतरिक भाग में विद्यमान रहती हैं। मस्तिष्क के आंतरिक हिस्से में, भीतरी भाग में चारों और दो काले रंग की पट्टियाँ लिपटी हुई हैं, इन्हें टेंपोरल कॉर्टेक्स कहते हैं। इनका क्षेत्रफल लगभग २५ वर्ग इंच और मोटाई एक इंच का दसवाँ भाग है। इनका स्थान कनपटियों से ठीक नीचे है। स्मृति का संयम और नियमन इन्हीं से होता है।

मस्तिष्क के शल्य चिकित्सक डॉ० विल्डर पेनफील्ड ने इन पट्टियों की विशेष खोज की है और वे मुद्दतों पुरानी ऐसी स्मृतियों को जाग्रत् करने में सफल हुए हैं, जिन्हें सामान्य या उपेक्षणीय कहा जा सकता है। महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालने वाली

घटनाएँ तो प्रायः याद रहती हैं, पर जो दैनिक जीवन में ऐसे ही आँखों के सामने से गुजरती रहती हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं माना जाता, वे विस्मृति के गर्त में जा पड़ती हैं। पुरानी हो जाने पर उन्हें याद कर सकना संभव नहीं होता, फिर भी वे पूर्णतया विस्मृत नहीं कही जा सकतीं। वे 'टेंपोरल कॉर्टेक्स' की पट्टियों के पुराने परत के स्पर्श करने से जाग्रत् हो सकती हैं। डॉ० विल्डर ने कितने ही व्यक्तियों के मस्तिष्क के मर्मस्थलों का विद्युत् धारा से स्पर्श करके निरर्थक घटनाक्रमों को स्मरण कराने में सफलता प्राप्त की है।

स्मरण शक्ति की विलक्षणता को ही लें, वह कई व्यक्तियों में इतनी अधिक मात्रा में विकसित पाई जाती है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। लिथुयानिया का रैवी एलिजा दो हजार पुस्तकें कंठाग्र रखने के लिए प्रसिद्ध था। कितनी ही बार उलट-पुलटकर उसकी परीक्षा की गई और वह सदा खरा उतरा। फ्रांस का राजनेता लिआन गैम्वाटा को विक्टर ह्यूगो की रचनाएँ बहुत पसंद थीं। उनमें से उसने हजारों संदर्भ के पृष्ठ याद कर रखे थे और उन्हें आवश्यकतानुसार धड़ल्ले के साथ घंटों दुहराता रहता था। इसमें एक शब्द भी आगे पीछे नहीं होता था। पृष्ठ संख्या तक वह सही-सही बताता चलता था।

ग्रीक विद्वान् रिचार्ड पोर्सन को भी पढ़ी हुई पुस्तकें महीनों याद रहती थीं। जो उसने आज पढ़ा है उसे एक महीने तक कभी भी पूछा जा सकता था और वे उसे ऐसे सुनाते थे मानो अभी-अभी रट कर आये हों। शतरंज का जादूगर नाम से प्रख्यात अमेरिकी नागरिक हैरी नेल्सन पिल्सबरी एक साथ बीस शतरंज खिलाड़ियों की चाल को स्मरण रखकर उनका मार्गदर्शन करता था। यह सब काम पूरी मुस्तैदी और फुर्ती से चलता था। बीसों खिलाड़ी उसका मार्गदर्शन पाते और खेल की तेजी बनाये रखते थे। प्रसा जर्मनी का लायब्रेरियन मैथूरिन वेसिरे दूसरों के कहे शब्दों की हूबहू पुनरावृत्ति कर देता था। जिन भाषाओं का उसे ज्ञान नहीं था, उनमें वार्तालाप

करने वालों की बिना चूक नकल उतार देने की उसे अद्‍भुत शक्ति थी। एक बार बारह भाषा-भाषी लोगों ने अपनी बोली में साथियों से वार्तालाप किये। मथुरिन ने क्रमशः बारहों के वार्तालाप को यथावत् दुहरा कर सुना दिया। बर्मा का आठ वर्षीय बालक जेरा कोलबर्न गणित के अति कठिन प्रश्न को बिना कागज-कलम का सहारा लिए मौखिक रूप में हल कर देता था। लंदन के गणितज्ञों के सम्मुख उसने अपनी अद्‍भुत प्रतिभा का प्रदर्शन करके सबको चकित कर दिया था। हैंबर्ग निवासी जान मार्टिन डेस भी अति कठिन गणित प्रश्नों को मौखिक रूप से हल करने में प्रसिद्ध था। उन दिनों उसके दिमाग की गणित क्षमता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आज के गणित कंप्यूटर भी उससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे।

मानवी-मस्तिष्क में जो अद्‍भुत शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उनमें से वह केवल कुछ की ही थोड़ी-सी ही मात्रा का प्रयोग कर पाता है। सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक शिक्षण द्वारा मनुष्य की जानकारी तथा क्रिया-कुशलता बढ़ती है। उस आधार पर वह अनुभव एवं अभ्यास को बढ़ाकर तरह-तरह की भौतिक सफलताएँ प्राप्त करता है। सामान्य जीवन की प्रगति इस प्रशिक्षणजन्य मस्तिष्कीयविकास पर ही निर्भर रहती है। यह सारा क्रियाकलाप समग्र मानसिक क्षमता का एक बहुत छोटा अंश है। इस परिधि से बाहर इतनी अधिक सामर्थ्य बच जाती है, जिसका कभी स्पर्श तक नहीं हो पाता और अछूती क्षमताओं को प्रसुप्त अवस्था में पड़ी रहने की दुःखद स्थिति में ही जीवन का अंत हो जाता है।

मस्तिष्कीय चमत्कारों में एक स्मरण-शक्ति का विकास भी है। यदि उस संस्थान को समुन्नत बना लिया जाए, तो सामान्यतया जितना मानसिक श्रम किया जा सकता है, उससे कई गुना कर सकना संभव हो सकता है।

संयुक्त-राष्ट्र संघ में एक ऐसे भाषा-अनुवादक थे, जो एक ही समय में चार भाषाओं का अनुवाद अपने मस्तिष्क में जमा लेते थे और चार स्टेनोग्राफर बिठाकर उन्हें नोट कराते चले जाते थे।

दार्शनिक जेरमी बेंथम जब चार वर्ष के थे, तभी लैटिन और ग्रीक भाषाएँ ठीक तरह बोलने लगे थे। जर्मनी गणितज्ञ जाचारियस ने एक बार २०० अंकों वाली लंबी संख्या का गुणा मन ही मन करके लोगों को अचंभे में डाल दिया था। अमेरिका के एक गैरिज-कर्मचारी को सैकड़ों मोटरों के नंबर जबानी याद थे और वह उनकी शक्ल देखते ही पुरानी मरम्मत की बात भली प्रकार याद कर लेता था।

डार्ट माउथ कालेज अमेरिका में एक प्रयोग किया गया कि क्या छात्रों की पुस्तक पढ़ने की गति तीव्र की जा सकती है ? मनोवैज्ञानिक व्यायामों और प्रयोगों के सहारे हर मिनट २३० शब्दों की औसत से पढ़ने वाले छात्रों की गति कुछ ही समय में बढ़कर ५०० शब्द प्रति मिनट तक पहुँच गई।

छोटी आयु भी प्रगति में बाधा नहीं डाल सकती है। शर्त एक ही है कि उसे मनोयोगपूर्वक अपने कार्य में तत्पर रहने की लगन हो। सैन फ्रांसिस्को कोलंबिया विश्वविद्यालय में जब प्राकृतिक इतिहास का प्रोफेसर नियुक्त हुआ तब उसकी आयु मात्र १६ वर्ष की थी।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने एक चार वर्षीया बालिका बेवेक थांपनन के गणित अध्ययन के लिए अतिरिक्त प्रबंध किया है। यह बालिका इतनी छोटी आयु में ही अंकगणित, त्रिकोणमिति और प्रारंभिक भौतिक-शास्त्र में असाधारण गति रखती थी। इस उम्र के बालक ने जिसने प्रारंभिक पढ़ाई क्रमबद्ध रीति से नहीं पढ़ी, आगे कैसे पढ़ाया जाए ? इसका निर्धारण करने के लिए शिक्षाशास्त्रियों को एक विशेष पैनल बनाकर काम करना पड़ा है।

सन् १९७९ में मद्रास संगीत एकादमी नयास की ओर से रविकिरण नामक ढाई वर्ष के बालक को इसकी अद्‌भुत संगीत प्रतिभा के उपलक्ष्य में ५०) रु० प्रति मास तीन वर्षों तक अतिरिक्त छात्रवृत्ति देने की घोषणा की गई। यह बालक न केवल कई वाद्ययंत्रों का ठीक तरह बजाना जानता था, वरन् दूसरों द्वारा गलत बजाये जाने पर उस गलती को बताता भी था।

उदाहरण यह बताते हैं कि हमारे मस्तिष्क में सारे संसार का ज्ञान आत्मसात् कर लेने वाले विलक्षण तत्त्व विद्यमान हैं। लार्ड मैकाले १९वीं सदी के विख्यात ब्रिटिश इतिहास लेखक थे। उनने इंग्लैंड का इतिहास आठ जिल्दों में लिखा था। उसके लिए उन्होंने दूसरी पुस्तकें उठाकर भी नहीं देखीं। हजारों घटनाओं की तिथियाँ और घटनाएँ संबंधित व्यक्तियों के नाम उन्हें जवानी याद थे। यही नहीं, स्थानों के परिचय—दूसरे विषय और अब तक जितने भी व्यक्ति उनके जीवन संपर्क में आ चुके थे, उन सबके नाम उन्हें कंठस्थ थे। लोग उन्हें चलता फिरता पुस्तकालय या विश्वकोश कहते थे।

पोर्सन ग्रीक भाषा का अद्वितीय पंडित था, उसने ग्रीक भाषा की सभी पुस्तकें और शेक्सपियर के नाटक मुख-जबानी याद कर लिए थे। ब्रिटिश संग्रहालय के सहायक अधीक्षक रिचर्ड गार्नेट बारह वर्ष तक एक संग्रहालय के मुद्रित पुस्तक विभाग के अध्यक्ष थे, इस संग्रहालय में पुस्तकों की हजारों आलमारियाँ और उनमें करोड़ों की संख्या में पुस्तकें थीं। श्री गार्नेट अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे न केवल पुस्तक का ठिकाना बता देते थे, वरन् पुस्तक की भीतरी जानकारी भी देते थे।

जर्मनी के कार्लविट नामक बालक ने स्वल्पायु में आश्चर्यजनक बौद्धिक प्रगति करने वाले बालकों में अपना कीर्तिमान् स्थापित किया है। वह ९ वर्ष की आयु में माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण करके लिपजिंग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और

१४ वर्ष की आयु तक पहुँचने पर उसने न केवल स्नातकोत्तर परीक्षा पास की वरन् विशेष अनुमति लेकर साथ ही पी० एच० डी० की डिग्री भी प्राप्त कर ली। १६ वर्ष की आयु में उसने उससे भी ऊँची एल० एल० डी० की उपाधि अर्जित की और उन्हीं दिनों वह बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त किया गया।

इस घटना पर टिप्पणी करते हुए "न्यूरोन फिजियोलॉजी इंट्रोडक्शन" के लेखक डॉ० जी० सी० एकिल्स ने लिखा है कि यह अनुभव यह बताते हैं कि मनुष्य को बालक के रूप में उपलब्ध ज्ञान जन्मांतरों के संस्कार के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? अतएव हमारे जीवन का सर्वोपरि ज्ञान होना चाहिए।

वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर आ गये हैं कि मस्तिष्क में ऐसे तत्त्व भी हैं, जो २० अरब पृष्ठों से भी अधिक ज्ञान भंडार सुरक्षित रख सकने में समर्थ हैं। एक व्यक्ति एक दिन में लगभग ५० लाख चित्र देखता है, उनकी बनावट रूप-रंग, ध्वनि, सुगंध व मनोभावों का भी आकलन करता है। अभिव्यक्त न कर सकने पर भी अनुभूत ज्ञान के रूप में उसमें से विशाल भंडार मस्तिष्क में बना रहता है। इस दृष्टि से मस्तिष्क किसी जादुई पिटारे से कम नहीं। यदि उसे वस्तुतः जाग्रत् किया जा सके तो मनुष्य त्रिकालज्ञ हो सकता है, भारतीय तत्त्वदर्शन की यह मान्यता कपोल कल्पित नहीं, इन तथ्यों के प्रकाश में वैज्ञानिक सत्य ही प्रतीत होता है।

➢ परिष्कृत मस्तिष्क की क्षमता

न्यूयार्क (अमरीका) शहर के सभी सभ्रांत व्यक्ति, बुद्धिजीवी और नगर की आबादी के हर क्षेत्र के नगरपार्षद उपस्थित हैं। हाल खचाखच भरा है। तभी एक व्यक्ति सामने स्टेज (मंच) पर आता है। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया—६० को ६० में गुणा करने पर

गुणनफल क्या आयेगा तथा गुणा करते समय ४७वें अंक का गुणा करने पर जो पंक्ति आयेगी उसे बाईं ओर से गिनने पर ३६वाँ अंक कौन सा होगा ? प्रश्न सुनते ही वह व्यक्ति जो प्रदर्शन के लिए आमंत्रित किये गये थे वह निर्विकार रूप से कुर्सी पर बैठ गये। बिना किसी खड़िया, कागज, पट्टी अथवा पेंसिल के प्रश्न मस्तिष्क का मस्तिष्क में ही हल करने लगे।

ध्यानस्थ व्यक्ति एक भारतीय थे। उनके अद्भुत मस्तिष्कीय करतबों से प्रभावित होने के कारण उन्हें अमरीका बुलाया गया। नाम था श्री सुरेशचंद्र दत्त, बंगाल के ढाका जिले के रहने वाले। सुरेशचंद्र दत्त ने कुल ४५ मिनट में इतना लंबा गुणा हल करके बता दिया, ४७वीं पंक्ति का ३६वाँ अक्षर भी। इससे पहले यही प्रश्न न्यूयार्क यूनिवर्सिटी के एक पी० एच० डी० प्रोफेसर ने भी हल किया था। प्रोफेसर साहब ने मौखिक न करके विधिवत् कापी-पेंसिल से गुणा किया था। प्रतिदिन २ घंटा लगाने के बाद पूरा प्रश्न वे ८ दिन में हल कर पाये थे। दोनों गुणनफल मिलाकर देखे गये तो दोनों में अंतर। निश्चित था कि उनमें से आया श्री सुरेशचंद्र दत्त अथवा प्रोफेसर साहब किसी एक का हल गलत था। जाँच के लिए दूसरे गणितज्ञ बैठाये गये। उनका जो गुणनफल आया वह श्री सुरेशचंद्र दत्त के गुणनफल जितना ही था, एक भी अंक गलत नहीं था, जबकि अमेरिकी प्रोफेसर साहब का हल १६ स्थानों पर गलत था। श्री सुरेशचंद्र दत्त से ऐसे कई प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने सर्वशुद्ध हल करके बता दिये। किस शताब्दी की, किस तारीख को, कौन-सा दिन था ? ऐसे कई प्रश्न पूछे गये, जिनका उत्तर १ सेकंड में ही श्री सुरेशचंद्र दत्त ने दिया—एक भी उत्तर गलत नहीं निकला। अमेरिका के वैज्ञानिक और बुद्धिवादी लोग इस अद्भुत क्षमता पर आश्चर्यचकित थे। दूसरे दिन अखबारों में सुरेशचंद्र दत्त की प्रशंसा—मशीन का प्रतिद्वंद्वी (राइवल ऑफ मशीन, दिमागी जादूगर (मेंटल विजार्ड) मनुष्य की शक्ल में

हिसाब की मशीन (ह्यूमन रेडी रेकनर) तथा विद्युत् गति से भी तीव्र गति से गणित के प्रश्न हल करने वाला (लाइटनिंग केलकुलेटर) आदि विशेषण देकर की गई। नवंबर १९२६ में "इंडियन रिव्यू" में श्री सुरेशचंद्र दत्त की इस विलक्षण प्रतिभा की जानकारी विस्तार से दी गई और इस अद्भुत मस्तिष्कीय क्षमता पर आश्चर्य प्रकट किया गया।

मनुष्य की जन्मजात विशेषताओं का कारण वैज्ञानिकों से पूछा जाता है, तो उत्तर मिलता है—वंशानुक्रम गुणों के कारण ऐसा होता है।

श्री सुरशचद्र दत्त के परिवार में उनकी ही तरह कोई विलक्षण बौद्धिक क्षमता वाला व्यक्ति समीपवर्ती तो पाया नहीं गया, संभव है, वह आदिपूर्वजों ऋषियों का अनुवांशिक गुण रहा हो। उस स्थिति में भी वह गुण और कहीं अनादि समय से ही आया होगा, जो एक अनादि चेतन तत्त्व की पुष्टि करता है। श्री दत्त में इस सुप्त गुण का पता जब वे ८ वर्ष के थे तब चला। एक बार एक स्कूल इंस्पेक्टर मुआयने के लिए आये। उन्होंने कुछ मौखिक प्रश्न पूछे। श्री सुरेशचंद्र ने उन्हें सेकेंडों में बता दिये, इंस्पेक्टर क्रमशः उलझे गुणक देता चला गया और श्री दत्त उनके सही उत्तरे। तब कहीं उन्हें स्वयं भी अपनी इस अद्भुत क्षमता का पता चला। पीछे तो वे १०० संख्या तक के गुणनफल और किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या के वर्गमूल (स्क्वैयर रूट) तथा घन मूल (क्यूब रूट) भी एक सेकेंड में बता देते थे।

ऐसी क्षमताओं वाले एक नहीं इतिहास में सैकड़ों ही व्यक्ति हुए हैं। इतिहास प्रसिद्ध घटना है—एक बार एडिनबरा का बैंजामिन नामक सात वर्षीय लड़का अपने पिता के साथ कहीं जा रहा था। बातचीत के दौरान उसने अपने पिता से पूछा—पिताजी, मैं किस दिन, किस समय पैदा हुआ था ? पिता ने समय बताया ही था कि दो सेकेंड पीछे बैंजामिन ने

कहा—तब तो मुझे जन्म लिये इतने सेकेंड हो गये। पिता ने आश्चर्यचकित होकर हिसाब लगाकर देखा तो उसमें १७२८०० सेकेंड का अंतर मिला, किंतु बैंजामिन ने तभी हँसते हुए कहा—पिताजी आपने सन् १८२० और १८२४ के दो लीप-ईयर के दिन छोड़ दिये हैं। पिता भौंचक्का रह गया—बालक की विलक्षण बुद्धि पर। दुबारा उतना घटाकर देखा गया तो बच्चे का उत्तर शत प्रतिशत सच निकला। यह घटना मायर की पुस्तक ह्यूमन परसनैलिटी में दी गई है और प्रश्न किया गया है कि आखिर मनुष्य अपने इस ज्ञानस्वरूप की वास्तविक शोध कब करेगा ? मायर ने लिखा है—जब तक मनोविज्ञान की सही व्याख्याएँ नहीं होतीं, विज्ञान की शोधें अधूरी और मनुष्य-जीवन के उतने लाभ की नहीं होंगी, जितनी कि अपेक्षा की जाती है।

➢ मस्तिष्क एक परिष्कृत देव भूमि

अपनी उँगलियों से नापने पर ९६ अंगुल के इस मनुष्य शरीर का वैसे तो प्रत्येक अवयव गणितीय आधार पर बना और अनुशासित है, पर जितना महत्त्वपूर्ण यंत्र इसका मस्तिष्क है—संसार का कोई भी यंत्र न तो इतना जटिल, रहस्यपूर्ण है और न समर्थ। यों साधारणतया देखने में उसके मुख्य कार्य—१. ज्ञानात्मक, २. क्रियात्मक और ३. संयोजनात्मक हैं, पर जब मस्तिष्क के रहस्यों की सूक्ष्मतम जानकारी प्राप्त करते हैं, तो पता चलता है कि इन तीनों क्रियाओं को मस्तिष्क में इतना अधिक विकसित किया जा सकता है कि (१) संसार के किसी एक स्थान में बैठे-बैठे संपूर्ण ब्रह्मांड के किसी भी स्थान की चींटी से भी छोटी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। (२) कहीं भी बैठे हुए किसी को कोई संदेश भेज सकते हैं, कोई भार वाली वस्तु को उठाकर ला सकते हैं, किसी को मूर्च्छित कर सकते हैं, मार भी सकते हैं। (३) संसार में जो कुछ भी है, उस पर स्वामित्व और वशीकरण भी कर सकते हैं। अष्ट सिद्धियाँ और नव-निधियाँ वस्तुतः मस्तिष्क के ही चमत्कार हैं,

जिन्हें मानसिक एकाग्रता और ध्यान द्वारा भारतीय योगियों ने प्राप्त किया था।

ईसामसीह अपने शिष्यों के साथ यात्रा पर जा रहे थे। मार्ग में वे थक गये, एक स्थान पर उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा—"तुम जाओ, सामने जो गाँव दिखाई देता है, उसके अमुक स्थान पर एक गधा चरता मिलेगा, तुम उसे सवारी के लिए ले आना।" शिष्य गया और उसे ले आया। लोग आश्चर्यचकित थे कि ईसामसीह की इस दिव्य दृष्टि का रहस्य क्या है ? पर यह रहस्य प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में विद्यमान है, बशर्ते कि हम भी उसे जाग्रत् कर पायें।

जिन शक्तियों और सामर्थ्यों का ज्ञान हमारे भारतीय ऋषियों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व बिना किसी यंत्र के प्राप्त किया था, आज विज्ञान और शरीर रचना शास्त्र (बायोलॉजी) द्वारा उसे प्रमाणित किया जाना यह बताता है कि हमारी योग-साधनाएँ, जप और ध्यान की प्रणालियाँ समय का अपव्यय नहीं वरन् विश्व के यथार्थ को जानने की एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रणाली है।

मस्तिष्क नियंत्रण प्रयोगों द्वारा डॉ० जोजे डेलगाडो ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क के दस अरब न्यूरोन्स के विस्तृत अध्ययन और नियंत्रण से न केवल प्राणधारी की भूख-प्यास, काम-वासना आदि पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है वरन् किसी के मन की बात जान लेना, अज्ञात रूप से कोई बिना तार की तरह संदेश और प्रेरणाएँ भेजकर कोई भी कार्य करा लेना भी संभव है। न्यूरोन मस्तिष्क से शरीर और शरीर से मस्तिष्क में संदेश लाने, ले जाने वाले बहुत सूक्ष्म कोषों (सेल्स) को कहते हैं, इनमें से बहुत पतले श्वेत धागे से निकले होते हैं, इन धागों से ही इन कोषों का परस्पर संबंध और मस्तिष्क में जाल-सा बिछा हुआ है। यह कोष जहाँ शरीर

के अंगों से संबंध रखते हैं, वहाँ उन्हें ऊर्ध्वमुखी बना लेने से प्रत्येक कोषाणु सृष्टि के दस अरब नक्षत्रों के प्रतिनिधि का काम कर सकते हैं, इस प्रकार मस्तिष्क को ग्रह-नक्षत्रों का एक जगमगाता हुआ यंत्र कह सकते हैं।

डॉ० डेलगाडो ने अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए कई सार्वजनिक प्रयोग करके भी दिखाये। अली नामक एक बंदर को केला खाने के लिए दिया गया। जब वह केला खा रहा था, तब डॉ० डेलगाडो ने 'इलेक्ट्रोएन्सेफेलोग्राफ' के द्वारा बंदर के मस्तिष्क को संदेश दिया कि केला खाने की अपेक्षा भूखा रहना चाहिए, तो बंदर भूखा होते हुए भी केला फेंक दिया। 'इलेक्ट्रोएन्सेफेलोग्राफ' एक ऐसा यंत्र है, जिसमें विभिन्न क्रियाओं के समय मस्तिष्क में उठने वाली भावतरंगों को अंकित कर लिया गया है। किसी भी प्रकार की भाव तरंग को विद्युत् शक्ति द्वारा तीव्र कर देते हैं तो मस्तिष्क के शेष सब भाव दब जाते हैं और वह एक ही भाव तीव्र हो उठने से मस्तिष्क केवल वही काम करने लगता है।

डॉ० डेलगाडो ने इस बात को एक अत्यंत खतरनाक प्रयोग द्वारा भी सिद्ध करके दिखाया। एक दिन उन्होंने इस प्रयोग की सार्वजनिक घोषणा कर दी। हजारों लोग एकत्रित हुए। सिर पर इलेक्ट्रोड जुड़े हुए दो खूँखार सांड़ लाये गये। इलेक्ट्रोड एक प्रकार का एरियल है, जो रेडियो ट्रांसमीटर द्वारा छोड़ी गई तरंगों को पकड़ लेता है। जब दोनों सांड़ मैदान में आये तो उस समय की भयंकरता देखते ही बनती थी, लगता था—दोनों सांड़ डेलगाडो का कचूमर निकाल देंगे, पर वे जैसे ही डेलगाडो के पास पहुँचे उन्होंने अपने यंत्र से संदेश भेजा कि युद्ध करने की अपेक्षा शांत रहना अच्छा है, तो बस फुसकारते हुए दोनों सांड़ ऐसे प्रेम से खड़े हो गये, जैसे दो बकरियाँ खड़ी हों। उन्होंने कई ऐसे प्रयोग करके रोगियों को भी अच्छा किया।

सामान्य व्यक्ति के मस्तिष्क में २० वाट विद्युत् शक्ति सदैव संचालित होती रहती है, पर यदि किसी प्रविधि (प्रोसेस) से प्रत्येक न्यूरोन को सजग किया जा सके तो दस अरब न्यूरोन, दस अरब डायनमो का काम कर सकते हैं। उस गर्मी, उस प्रकाश, उस विद्युत् क्षमता का पाठक अनुमान लगायें—कितनी अधिक हो सकती होगी।

विज्ञान की यह जानकारियाँ बहुत ही सीमित हैं। मस्तिष्क संबंधी भारतीय ऋषियों की शोधें इससे कहीं अधिक विकसित और आधुनिक हैं। हमारे यहाँ मस्तिष्क को देवभूमि कहा गया है और बताया है कि मस्तिष्क में जो सहस्त्र दल कमल है, वहाँ इंद्र और सविता विद्यमान हैं। सिर के पीछे के हिस्से में रुद्र और पूषन देवता बताये हैं। इनके कार्यों का विवरण देते हुए शास्त्रकार ने इंद्र और सविता को चेतन शक्ति कहा है और रुद्र एवं पूषन को अचेतन। दरअसल वृहत् मस्तिष्क (सेरिब्रॅम) ही वह स्थान है, जहाँ शरीर के सब भागों से हजारों नस-नाड़ियाँ आकर मिली हैं। यही स्थान शरीर पर नियंत्रण रखता है, जबकि पिछला मस्तिष्क स्मृति-शक्ति का केंद्र है। अचेतन कार्यों के लिए यहीं से एक प्रकार के विद्युत् प्रवाह आते रहते हैं।

मस्तिष्क का यह चेतन भाग सदैव क्रियाशील रहता है। जन्म के समय भी शरीर रचना का विकास यहीं से होता है और इसके क्षतिग्रस्त होने पर ही संपूर्ण मृत्यु होती है। शारीरिक मृत्यु (क्लिनिकल डेथ) हो जाने पर भी जब तक यह भाग जीवित रहता है, तब तक व्यक्तित्व मुर्दा नहीं होता। इसके अनेक उदाहरण भी पाये गये हैं।

सन् १८६६ में कलकत्ता में फ्रैंक लेसली नामक एक अंग्रेज का हृदयगति रुक जाने से निधन हो गया। उसके परिवार में औरों की भी हृदयगति रुकने से मृत्यु हुई थी, इसलिए उसकी मृत्यु निश्चित मानकर उसे ताबूत में बंद कर कब्रिस्तान में गाड़ दिया गया। उसके परिवार वाले उसे उटकमंड के सेंट जॉन चर्च के

कब्रिस्तान में उसे गाड़ना चाहते थे, किंतु इसके लिए आवश्यक आज्ञा ६ माह बाद मिली। जब ताबूत को बाहर निकाला गया और रस्म के अनुसार उसे खोलकर देखा गया तो लोग घबड़ाकर पीछे हट गये, ६ माह पूर्व लाश जिस स्थिति में रखी थी, अब उससे बिलकुल भिन्न थी। लेसली की लाश चित्त और दोनों हाथों का क्रास बनाते हुए लिटाई गई थी, किंतु अब वह औंधी पड़ी थी, पेंट और कमीज फाड़े हुए थे, मुख के पास खून गिरा था, कई जगह से उँगलियाँ चबाई हुई थीं।

मृत्यु के पूर्व डॉक्टरों ने सारी परीक्षा ठीक-ठीक कर ली थी, कब्र और ताबूत के अंदर कोई कीड़ा भी न जा सकता था, फिर यह स्थिति कैसे हुई। निःसंदेह उसकी अंतिम चेतना जब मस्तिष्क के अदृश्य भाग में थी तभी उसे दफना दिया गया, पर जब चेतना लौटी होगी तो उस समय शरीर साँस लेने की स्थिति में न था। भय और क्रोध में ही उसने निकलने का प्रयत्न किया होगा, तभी कपड़े फटे होंगे और अंत में रक्त-वमन के साथ उसकी मृत्यु हुई होगी।

एडिनबरा में लड़कियों के होस्टल में एक बार एक लड़की बीमार पड़ी। डॉक्टरी उपचार के बावजूद उसके शरीर के जीवन के सब लक्षण लुप्त हो गये। नाड़ी चलना बंद हो गई, श्वास की गति रुक गई। डॉक्टरों ने लड़की को मृत घोषित कर दिया और उसकी अंत्येष्टि की आज्ञा दे दी गई।

किंतु सुप्रसिद्ध डॉक्टरों की घोषणा के बाद भी होस्टल संरक्षिका (वार्डन) ने लड़की की अंत्येष्टि क्रिया करने से इंकार कर दिया। उसने कहा—"इसके शरीर से जब तक दुर्गंध नहीं आती, मैं इसे मृतक नहीं मानती, भले ही डॉक्टर कुछ कहें।" दस दिन तक लड़की उसी अवस्था में पड़ी रही। शरीर में सड़ने या दुर्गंध के कोई लक्षण नहीं थे। डॉक्टर इस घटना से स्वयं भी आश्चर्यचकित थे। आश्चर्य उस समय और बढ़ गया,

जब तेरहवें दिन लड़की जीवित हो गई और कुछ ही दिन में स्वस्थ भी हो गई।

संत हरिदास ने सिख राजा रणजीतसिंह के आग्रह पर अंग्रेज जनरल वेंटुरा को १० दिन और ४० दिन की योग समाधि जमीन में जीवित गड़कर दिखाई थी। जब वे मिट्‌टी से निकले थे, तब उनका चोटी के पास वाला स्थान अग्नि की तरह गर्म था।

यह स्थान सप्तधार सोम 'रोदसी' कहलाता है। रोदसी का अर्थ होता है दो खंडों वाला—दोनों खंड इंद्र और सविता, मध्य भाग को अंतरिक्ष और अनुमस्तिष्क को पृथ्वी कहा है। इनमें क्रमशः अग्नि, स्वर्गद्वार, अत्रि, द्रोणकलश और अश्विनी आदि सात प्रमुख शक्तियाँ काम करती हैं। इन सात शक्तियों को पैरासेल्सस ने भी अपोलो और डैविड दो भागों में विभक्त किया है और स्वीकार किया है कि यह सात पुष्प मस्तिष्क की सूक्ष्म आध्यात्मिक भावनाओं से संबंध रखते हैं। इन सात भागों को शरीर रचना शास्त्र अब सात शून्य स्थानों (वेन्ट्रिकिल्स) के रूप में जानने लगा है। पहला, दूसरा और चौथा खाली स्थान मस्तिष्क के दायें और बायें। तीसरा उसके उसके नीचे पीनियल और पिट्यूटरी ग्रंथि से जुड़ा होता है। पाँचवां तीसरे के नीचे सेरीबेलम के स्थान पर है, छठवां मस्तिष्क से निकलता है एवं नीचे रीढ़ में होता हुआ सैक्रोकोक्सिजियल गैग्लियन अर्थात् रीढ़ के निचले भाग में पहुँचता है। सातवां खोपड़ी के दायें भाग में बादल की तरह छाया रहता है।

वरुण देवता को तीनों लोकों में व्याप्त बताया गया—

यस्य श्वेता विचक्षणा विस्रो भूमीरधिक्षितः थिरुत्तराणि पप्रतुः वरुणस्य ध्रुवं सदः। स सप्तानाभिरज्यति।।

अर्थात्—वरुण देव की रहस्यमयी धारणा किये हुए शिरायें तीनों लोकों में व्याप्त हैं, तीनों उत्तर दिशा के स्नायु-केंद्रों से बँधी हैं, यहाँ वरुणदेव का मूल निवास है और यहीं से निकले हुए सात

स्नायु केंद्र सारे शरीर और मानसिक चेतना का नियंत्रण करते हैं। शरीर रचना शास्त्रियों ने भी इसे सेरीब्रोस्पाइनल फ्लूइड के नाम से स्वीकार किया है और यह माना है कि इसमें ६६ प्रतिशत जल ही होता है, एक प्रतिशत विभिन्न लवण होते हैं।

विज्ञान और अध्यात्म की यह तुलनात्मक जानकारियाँ यद्यपि अपूर्ण हैं, पर वे एक ऐसे दर्शन के द्वार अवश्य खोलती हैं, जिनमें वैज्ञानिक भी यह स्वीकार कर सकते हैं कि मनुष्य मस्तिष्क से नितांत शरीर ही नहीं वरन् एक विचारविज्ञान भी है और उस दिशा में शोध के लिए अभी विज्ञान का सारा क्षेत्र अधूरा पड़ा है। लोग चाहें तो उसे आध्यात्मिक और यौगिक क्रियाओं द्वारा खोजकर एक महत्तम शक्ति के स्वामी होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं। देवताओं के नाम से विख्यात इन खाली स्थानों (वेन्ट्रिकिल्स) में शक्ति के अज्ञात स्रोत छुपे हुए हैं।

□ □

न घुटते रहिये, न भयभीत होइये

मस्तिष्क को—मानसिक शक्तियों के केंद्र को आज व्यस्त और असंतुलित करने वाले कारणों में दो बहुत भयंकर हैं—पहला घुटन और दूसरा भय। यों ये दोनों विकृतियाँ लगभग एक जैसी हैं। इनमें बहुत सूक्ष्म सा अंतर है। घुटन में परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होती है, उनसे होने वाली हानि के कारण घबड़ाहट भी होती है, परंतु व्यक्ति उन परिस्थितियों के कारण इतना भयभीत रहता है कि वह भीतर ही भीतर घुलता-जलता रहता है। भय में इसी प्रकार की दुर्बलता है। ये दोनों स्थिति मानसिक असंतुलन के ही दुष्परिणाम हैं।

मस्तिष्क का पूरा नियंत्रण सारे शरीर पर है, उसकी इच्छा से ही नाड़ी संस्थान काम करता है और ज्ञान तंतुओं के माध्यम से ही उसी का वर्चस्व छोटे से लेकर बड़े अंगों पर छाया रहता है। ऐसे उद्‌गम केंद्र में असंतुलन पैदा हो तो वह स्थानीय नहीं हो सकता, उसका प्रभाव ज्ञान तंतुओं के माध्यम से अन्य अंगों तक भी पहुँचेगा और वहाँ भी रुग्णता की संभावना उत्पन्न होगी।

मानसिक घुटन को वाणी द्वारा या क्रिया द्वारा फूट कर बाहर निकलने का अवसर मिलना चाहिए। अन्यथा वह दबाव अनैच्छिक संस्थान की ओर मुड़ जाता है और शरीर में जो स्वसंचालित क्रियाएँ होती रहती हैं, उनमें वह घुटन वाला विष जा घुलता है। इससे संबंधित अंगों में सिकुड़न एवं अकड़न पैदा होती है। यदि यह घुटन पेट की ओर मुड़ जाए तो आमाशय पर अकारण ही तीव्र प्रतिक्रिया होती है और पाचन क्रिया में गड़बड़ी मच जाती है। रक्त संचार रुकता है और पाचन रसों की सप्लाई रुक जाती है। उस गड़बड़ी से पहले आमाशय में सूजन होती है फिर जख्म बन जाते

हैं। अल्सर इसी प्रकार का रोग है, जिसमें शारीरिक कारण कम और मानसिक अधिक रहते हैं।

यदि शोक-संताप का कोई कारण हो तो जोर से रो पड़ने या फूट-फूटकर बिलखने की इच्छा पूरी कर लेनी चाहिए। मानसिक आघात से उत्पन्न घुटन बाहर निकाल देने का यही सरल और स्वाभाविक तरीका है। यदि लोक-लाजवश उस इच्छा को दबाकर अपने वीतराग या मनस्वी होने का ढोंग किया जाएगा, तो मानव स्वभाव की कमजोरियों पर तो विजय पाई न जा सकेगी, वह घुटन भी दबकर भीतर बैठ जाएगी और अनेक गड़बड़ियाँ पैदा करेगी। कोई विषैली चीज पेट में पहुँच जाए तो सीधा तरीका यही है कि उल्टी या दस्त द्वारा बाहर निकल जाने दिया जाए। यदि उसे निकलने का अवसर न मिला तो वह विष फिर अनेक भयंकर तरीकों से फूटकर निकलेगा और दस्त-उलटी जैसी कठिनाई की तुलना में अधिक कष्ट साध्य और समय साध्य होगा।

क्रोध में बकझक कर, जी की जलन शांत कर लेना अच्छा है। पर यदि उस आवेग को मन में दबा लिया जाए तो वह घृणा या द्वेष के रूप में जड़ जमा कर बैठ जाएगा और शत्रुता का रूप धारण करके किसी अवसर पर विकराल प्रतिहिंसा का रूप धारण कर सकता है।

कामुक आकांक्षाओं को होली जैसे त्यौहार पर एक दो दिन उच्छृंखल नाच-कूदकर—गा-बजाकर निकाल देते हैं और जी हल्का कर लेते हैं, इसके विपरीत मन में काम विकार घुमड़ते रहें और बाहर से ब्रह्मचारी बनकर बैठा रहा जाए तो भीतर ही भीतर वह घुटन दूसरे रूप में फूटती है और कई प्रकार के शारीरिक-मानसिक रोग उत्पन्न करती है।

अच्छा यही है कि मन को ऐसा प्रशिक्षित किया जाए कि उसमें सौम्य सज्जनता ही स्वाभाविक हो जाए और विकार-विकृतियों के लिए गुंजाइश ही न रहे। पर यदि क्रोध, शोक

आदि आवेग उठ रहे हों तो उन्हें प्रकट होकर बाहर निकल जाने देना चाहिए।

कोई तो ऐसा सच्चा एवं विश्वस्त मित्र होना ही चाहिए, जिसके सामने पेट के छिपे हुए हर रहस्य और भेद को प्रकट कर दिया जा सके। पिछले पापों को भी किसी ऐसे विश्वस्त से कह ही देना चाहिए, जो उन्हें हर किसी से कहकर निंदा का वातावरण तो न् बनाये, पर स्वयं सहानुभूतिपूर्वक सुन ले। बदले में घृणा भी न करे। छिपी बात को कह सकने योग्य उसे विश्वस्त समझा जाए, इसके लिए मित्र की उदारता और आत्मीयता को सराहे। ऐसे मित्रों का होना मनोविकारों की घुटन से पीछा छुड़ाने का अच्छा तरीका है। अपने किये हुए पाप का प्रायश्चित्त कर लेना तो सबसे ही उत्तम है। उससे घुटन द्वारा होने वाली भयंकर संभावनाओं की तुलना में कहीं कम कठिनाई उठाकर, न केवल मन हलका कर लिया जाता है, वरन् कितने ही शारीरिक और मानसिक रोगों की जड़ भी कट जाती है।

मनःसंस्थान में उत्पन्न घुटन विकृतियाँ अथवा भावनात्मक रोग उत्पन्न करती हैं। उन रोगों के अलग से लक्षण नहीं होते वरन् वे शारीरिक रोगों में मिलकर ही फूटते हैं। शारीरिक रोग यदि कायगत हों तो मामूली दवा-दारू ही अच्छा कर देती है। पुराने समय में जब लोग सरल जीवन जिया करते थे, मन में प्रसन्नता, निष्कपटता और निर्द्वंद्वता का संतुलन बनाये रहते थे—तब आज जैसी मानसिक रोगों की बाढ़ न थी। उस जमाने में केवल काय कष्ट ही होता था, अस्तु उनके उपचार में कोई कठिनाई नहीं होती थी। अब प्रत्यक्षतः तो शारीरिक रोग ही दीखते हैं, पर उनके पीछे मानसिक रोगों की जटिल ग्रंथियाँ उलझी होती हैं; जब तक वे न सुलझें, दवा क्या काम करे। मानसिक रोगों की दवाएँ अभी निकली नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यदि चिकित्सकों को चक्कर में डाल रखने वाले और दवाओं को झुठलाते रहने वाले रोगों का बाहुल्य औषधि

उपचार की परिधि से बाहर निकलने लगे तो उसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है।

भावनाएँ यदि निर्मल, उदात्त और उच्चस्तरीय हों तो उनसे हर दृष्टि में लाभ ही लाभ है। अंतःकरण, मस्तिष्क और शरीर इन तीनों की ही पुष्टि होती है। परिस्थितिवश यदि शोक, क्रोध जैसे अवसर आ जाएँ और विवेक उनके समाधान में समर्थ न हो तो उसे स्वाभाविक रीति से प्रकट हो जाने देना चाहिए। जितना संभव हो उतना मर्यादाओं का पालन किया जाए, विवेक द्वारा बड़ी दीखने वाली बात को छोटी करके उपेक्षा में डाल दिया जाए, पर यदि वैसा न बन पड़े तो उसके प्रकटीकरण में भी हर्ज नहीं है।

कामवासना के पीछे मूलवृत्ति हास्य, विनोद और क्रीड़ा-कलोल की—कोमल भावनाओं की उत्तेजना का आनंद लेने की होती है। उसे दूसरे रूप में प्रकट और परिणत किया जा सकता है। छोटे बालकों को खिलाने, दुलारने से भी सौंदर्य, वासना और निर्मल हास-विलास की आवश्यकता पूरी हो जाती है। संगीत, साहित्य जैसी ललित कलाओं का निर्माण ही इस आधार पर हुआ है कि उनसे भावनात्मक नीरसता को सरसता में परिणत होने का अवसर मिले। नर-नारी में भी निष्पाप हास्य-विनोद चलता रह सकता है। कुटुंब में बहिन-भाई, देवर-भौजाई, चाची-भतीजे जैसे कई रिश्ते नर-नारी के बीच रहते हैं। इनमें परस्पर विचार-विनिमय, हास्य-परिहास, वार्तालाप चलता रहे तो नर-नारी की पूरक आकांक्षाएँ पवित्र स्तर पर पूरी होती रह सकती हैं और कामेच्छा का उदात्तीकरण होने से उन्हें भावनात्मक तृप्ति मिलती रह सकती है। पति-पत्नी के बीच भी शरीरों को न्यूनतम मात्रा में ही गलाकर—व्यंग-विनोद, उपहास-परिहास की शालीन प्रक्रिया अपनाकर मनःक्षेत्र को उल्लास से भरा जा सकता है और वासना-जन्य घुटन का सहज निष्कासन होता रह सकता है। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य पालन कठिन नहीं पड़ता वरन् सरल हो जाता है।

भावनाओं का अनियंत्रित उभार ठीक शरीर में चढ़े हुए बुखार की तरह है। बुखार में पाचन तंत्र लड़खड़ा जाता है। कोई अवयव उत्तेजित होकर, अधिक काम कर रहा होता है तो कोई एकदम शिथिल पड़ गया होता है। ऐसे असंतुलन में रोगी को दाह, प्यास, बेचैनी, दर्द आदि कितने ही कष्ट अनुभव होते हैं। भावनात्मक उभार को एक मस्तिष्कीय बुखार कहना चाहिए। कई बार वह तीव्र होता है, कई बार मंद। क्रोध, शोक और बेकाबू होकर प्रकट होने वाले आवेग तीव्र बुखार है। चिंता, निराशा, कुढ़न, ईर्ष्या जैसी प्रवृत्तियाँ मंद ज्वर हैं। आकांक्षाओं को इतनी बढ़ा लेना कि वर्तमान परिस्थिति में कार्यान्वित-फलीभूत न हो सकें तो भी उनसे अतृप्ति जन्य क्षोभ उत्पन्न होता है और मानसिक संतुलन बिगड़ता है। उन्नति के लिए प्रयत्न करना बात अलग है और महत्त्वाकांक्षाओं का पहाड़ खड़ा करके हर घड़ी असंतोष अनुभव करना बिल्कुल अलग बात है। कितने ही व्यक्ति उपलब्धियों के लिए व्यवस्थित प्रयास तो कम करते हैं किंतु कामनाओं के रंग-बिरंगे स्वप्न ही देखते रहते हैं। शेखचिल्ली की तरह लंबी-चौड़ी बातें सोचते रहना तो सरल है, पर उन्हें फलीभूत बनाने के लिए योग्यता, साधन और परिस्थिति तीनों का ही तालमेल रहना चाहिए। इसके बिना महत्त्वाकांक्षाएँ—ऐषणाएँ केवल मानसिक विक्षोभ ही दे सकती हैं। इस प्रकार की उड़ानें उड़ते रहने वाले अंततः निराशाजन्य मानसिक रोगों के जाल-जंजाल में जा फँसते हैं।

भावनात्मक विकृतियाँ शरीर के उपयोगी अंगों पर तथा जीवन-संचार की क्रियाओं पर बुरा असर डालती हैं, उनके सामान्य क्रम को लड़खड़ा देती हैं और वह अवरोध किसी न किसी शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होता है। पापी मनुष्य दूसरों की जितनी हानि करता है, उससे ज्यादा अपनी करता है। दुष्कर्म कर लेना अपने हाथ की बात है, पर उसकी प्रतिक्रिया जो कर्ता के ऊपर होती है और आत्म-धिक्कार की आत्म-प्रताड़ना की जो भीतर ही भीतर मार पड़ती

है, उसे रोकना किसी के बस में नहीं रहता। पाप-पुण्य के भले-बुरे फल मिलने की यही तो स्वसंचालित प्रक्रिया है। पाप कर्म के बाद अंतःकरण में अनायास ही पश्चात्ताप और धिक्कार की प्रतिक्रिया उठती है। उससे शरीर और मन का संतुलन बिगड़ता है। दोनों क्षेत्र रुग्ण होते हैं। उसके फलस्वरूप जनसहयोग का अभाव, असम्मान मिलता है और संतुलन बिगड़ा रहने से हाथ में लिए हुए काम असफल होते हैं। इस सबका मिला-जुला स्वरूप शारीरिक-मानसिक कष्ट के रूप में आधि-व्याधि बनकर सामने आता है। कर्मफल भोग की यही मनोवैज्ञानिक पद्धति है। इससे बचाव करने के लिए निष्पाप जीवनक्रम अपनाने की आवश्यकता है। जो पाप पिछले दिन बन पड़े हैं, उनके प्रायश्चित्त के लिए किसी सूक्ष्मदर्शी आत्मविद्या विज्ञानी से परामर्श लेने की आवश्यकता है।

'साइकोसोमेटिक' रोगों की बाढ़ इन दिनों बौद्धिक विकास के दुरुपयोग ने उत्पन्न की है। होना यह चाहिए कि यदि प्रबुद्धता के दुरुपयोग का खतरा हो तो वहाँ मानसिक विकास का प्रयास न किया जाए; यदि वह अनुचित लगता है और मस्तिष्कीय विकास आवश्यक लगता है तो उसे सन्मार्गगामी बनाये जाने की समुचित तैयारी पहले से ही रखनी चाहिए। विकसित मस्तिष्क यदि दुष्प्रवृत्तियों से भरा रहा तो निश्चित रूप से वह अभिशाप सिद्ध होगा और उसका दंड जटिल, कष्टसाध्य, दुराग्रही साइकोसोमेटिक रोगों के रूप में भुगतना पड़ेगा। यह मानसिक रोग झक्कीपन, आवेश, मतिभ्रम, अर्धविक्षिप्तावस्था, पागलपन आदि के रूप में भी हो सकते हैं और अन्य शारीरिक अवयवों में रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

घुटन एक—न दीखने वाली—न समझ में आने वाली बीमारी है, पर इसका कुप्रभाव किसी भी भयंकर रोग से कम नहीं होता। अतृप्त और असंतुष्ट मनुष्य अपने आप ही अपने को खाता, खोता और खोखला करता रहता है। घुटन से बचा जाए। यदि अपनी भूल है—स्थिति का सही मूल्यांकन न करके काल्पनिक जाल-जंजाल

बुन लिया गया है, तो मकड़ी के जाले को तोड़कर यथार्थता के धरातल पर आना चाहिए और परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर मन का बोझ हल्का करना चाहिए। यदि अपनी मान्यता सही है और दबाव डालकर आत्मा की आवाज का हनन किया जा रहा है तो फिर ऐसे आधिपत्य से इनकार करके अपना स्वतंत्र रास्ता बनाना चाहिए; फिर चाहे वह कितना ही असुविधाजनक क्यों न हो। घुटन में दिन काटते हुए अंतरात्मा को दिन-दिन दुर्बल बनाते जाने से तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों ही बल नष्ट होते हैं। इस प्रकार आत्महत्या की स्थिति से तो निकलना ही चाहिए भले ही उसमें कुछ बड़ा जोखिम उठाना पड़े। घुटन यदि आत्मप्रताड़ना की है तो उसे किसी विश्वस्त मित्र के आगे जी खोलकर कह ही देना चाहिए, इस प्रकार वह धुआँ बाहर निकाल देने पर ही जी हल्का हो सकता है।

➢ उसी से डरें, जिससे डरना चाहिए

संकट भयंकर तब तक लगता है जब तक उसके साथ मुठभेड़ नहीं होती। जब उसके साथ गुथ जाया जाता है और मानसिक संतुलन बिगड़ने नहीं दिया जाता, तो प्रतीत होता है कि जितना सोचा गया था—उससे आधी-चौथाई भी उसकी वास्तविक भयानकता नहीं थी। संकटों के साथ गुथने का जैसे-जैसे अभ्यास होता जाता है, वैसे-वैसे वे स्वाभाविक दैनिक कार्यों की तरह सरल प्रतीत होने लगते हैं।

अपने लिये साँप और शेर बहुत भयंकर होते हैं, पर बहुत से लोगों का धंधा ही उन्हें पकड़ना-मारना है। सपेरे रोज ही काले विषधर नाग पकड़ते हैं, शिकारी आये दिन शेर-बाघ का शिकार करते हैं। उन्हें वे जरा भी डरावने नहीं लगते वरन् उन्हें ढूँढ़ते रहते हैं और मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं। जबकि अजनबी व्यक्ति को साँप, शेर की तस्वीर देखने और चर्चा सुनने भर से पसीना छूटता है।

अँधेरे में घुसने में डर लगता है। सुनसान में प्रवेश करते हुए पैर काँपते हैं। मन में तरह-तरह की आशंकाएँ उठती हैं कि उस अँधेरे-सुनसान में—न जाने क्या विपत्ति होगी ? शेर, साँप, बिच्छू, भूत आदि की कितनी आशंकाएँ सामने आती हैं और दिल धड़कने लगता है। पर जब उसमें निधड़क प्रवेश किया जाता है—दीपक लेकर देखा जाता है तो प्रतीत होता है कि वहाँ डरने जैसा कुछ भी नहीं था। मन की दुर्बलता ही है, जो जरा-सा आधार मिलते ही तिल का ताड़ बनाती है। काल्पनिक भय गढ़ कर उन्हें इस तरह चित्रित करती है मानो प्राणघाती-सर्वनाशी संकट आ गया। अब बचना कठिन है। जबकि वस्तुतः जरा-सा कारण ही वहाँ रहा होता है और वह भी इतना छोटा कि उसके साथ आसानी से निपटा जा सके।

दुनिया में लाखों करोड़ों लोग अँधेरे में रहते और आते-जाते हैं। वन्य प्रदेशों में यदा-कदा ही दीपक का प्रयोग होता है। किसान खेतों पर सोते हैं और रात को रखवाली करते हैं। छोटी झोंपड़ियाँ बनाकर सघन जंगलों में लोग परिवारों समेत रहते हैं। धनी लोग सघन बस्ती से हटकर खुले बंगलों में रहते हैं। चोर, डाकू, साँप, बिच्छू, शेर, बाघ, भूत-पलीत कहाँ, किसको खाते है ? यदा-कदा तो दुर्घटनाएँ दिन दहाड़े बीच बाजार में भी हो सकती हैं। संकट के वास्तविक अवसर कम ही आते हैं। अधिकतर तो लोग काल्पनिक संकट गढ़ते हैं और अपने बनाये उस खिलौने को देख-देखकर डरते-मरते रहते हैं।

भय वस्तुतः कायरता की प्रतिकृति है। अपना मुँह जैसा भी होगा वैसा ही दर्पण में दीखेगा। आँखों पर पीले काँच का चश्मा पहन लिया जाए तो हर चीज पीली दिखाई देगी। कायर मनुष्य की आंतरिक दुर्बलता संसार रूपी दर्पण में विपत्ति बनकर दीखती है। संकट का सामना करने की—उससे उलझने, निपटने की क्षमता अपने में नहीं है, यह मान लेने के बाद ही डर आरंभ होता है। जिसे यह भरोसा है कि कठिन अवसर आएँगे तो सूझबूझ के साथ उनका मुकाबला करेंगे।

उन्हें हटाने के लिए जूझेंगे। इसके लिए अवश्य समझ और बल अपने पास है। मित्र और ईश्वर साथ देगा। इस प्रकार की हिम्मत यदि अपने में मौजूद हो तो काल्पनिक डरों से छुटकारा मिल पाता है और तीन चौथाई मन का बोझ हल्का हो जाता है। वास्तविक कारण एक चौथाई होते हैं, सो उनके साथ अपने शौर्य को बढ़ाने का व्यायाम समझकर लड़ा जा सकता है। तैरना, कूदना, मोटर चलाना, व्यायाम प्रतियोगिता, वन-पर्वत की यात्रा, यह सभी जोखिम भरे काम हैं। इनमें थोड़ी सी चूक कठिनाई खड़ी कर सकती है, पर उस आशंका के कारण कौन उन साहसिक कार्यों का आनंद छोड़ता है ? डर से बचने के उपाय सोचते रहने पर भी उनसे बचे ही रहेंगे, इस बात का कोई निश्चय नहीं। बीमारी कौन चाहता है ? मौत किसे सुहाती है ? पर जब आने की घड़ी आ पहुँचती है तो बचने की सारी तरकीबें बेकार चली जाती हैं। निःशंक होकर रहना और जब जो संकट आएगा उससे निपट लिया जाएगा, ऐसी हिम्मत रखना; बस संसार में चैन से रहने का यही तरीका है।

भय एक प्रकार की अकड़न है। अकड़न की बीमारी सारे शरीर को जकड़ देती है। अंग सीधे ही नहीं होते, चलना-उठना कठिन हो जाता है। रक्त ठंडा पड़ जाता है और दिमाग सोचना बंद कर देता है। चाहने पर भी शरीर कुछ काम नहीं करता। लकवा, गठिया जैसे रोग ऐसे ही होते हैं जो जीवित मनुष्य को मृतक जैसा बना देते हैं। उन्हीं में से एक रोग है—भय। डर का अर्थ—पुरुषार्थ की शक्ति रहते हुए भी उसका कुंठित हो जाना। सिंह को देखकर हिरन चौकड़ी भरना भूल जाते हैं—खड़े हो जाते हैं और बे-मौत मरते हैं। यदि उनमें हिम्मत बनी रहती और छलांग भरते तो संभवतः परिणाम कुछ और ही होता। प्राणिशास्त्रियों के अनुसार हिरन शेर की अपेक्षा अधिक दौड़ को क्या कहा जाए, हिम्मत हार जाने पर तो मौत के मुँह में जाने के अलावा और कुछ रास्ता बनता नहीं।

कथा है कि—एक बार यमराज ने महामारी को पृथ्वी पर भेजा और पाँच हजार मनुष्य मार लाने के लिए आदेश दिया। बीमारी गई और अपना काम पूरा करके लौट आई। मृतक गिने गये तो वे पंद्रह हजार थे। यमराज ने डाँटा और पूछा—आदेश से तिगुने मृतक क्यों ? महामारी ने गंभीरतापूर्वक कहा—उसने केवल पाँच हजार ही मारे हैं। शेष तो डर के मारे खुद ही मर गये हैं।

मानसिक दुर्बलता के अतिरिक्त डर का एक और कारण है—अनैतिकता। जिसकी अंतरात्मा कलुषित और पाप कर्म से लिप्त है, वह कभी चैन की नींद न सो सकेगा। उसे दूसरे की ओर से तरह-तरह की आशंकाएँ रहेंगी। उसे उनसे धोखा होने का—बदला लेने का—फँसा देने का डर बना ही रहेगा। पोल खुल जाने पर बदनामी फैलेगी और लोग सतर्क होकर उसके जाल मे फँसने तथा साथ देने से अलग हो जायेंगे। निंदा और असहयोग की स्थिति में उसका भविष्य ही अंधकारमय हो जाएगा। इस डर से उसका मन सदा आशंकित रहता है। पाप कर्म के फलस्वरूप समाज का दंड, राजदंड तथा ईश्वरीय दंड मिलते हैं। तीनों इकट्ठे होकर या अलग-अलग से वे कभी न कभी मिलकर ही रहेंगे, इस भय से भीतर ही भीतर बड़ी बेचैनी रहती है। इस आत्मदेव की पीड़ा उसे निरंतर टोंचती रहती है। बाहर वाले दंड मिलने में तो देर सबेर भी हो सकती है, पर आत्म दंड तो कुमार्ग पर कदम धरते ही मिलना आरंभ हो जाता है और वह निरंतर दुःख देता रहता है।

बेईमान और झूठा मनुष्य आँखें मिलाकर दूसरों को नहीं देख सकता और न जी खोलकर बात करने की हिम्मत पड़ती है। बनावटी, उथली-उखड़ी बातें करते हुए उसका ओछापन प्रत्यक्ष प्रकट होता रहता है और उसकी मुखाकृति, चेष्टा, भाव-भंगिमा, गतिविधियाँ वास्तविकता प्रकट करती रहती हैं। अपना आपा ही—चुगली करता है और मूक वाणी से यह घोषित करता रहता है—यहाँ धोखा ही धोखा है।

कर्जदार अक्सर अनैतिक लोग ही होते हैं। आमदनी से अधिक खर्च करना चोरी, उठाईगीरी की तरह सर्वथा अनैतिक है। अपनी हैसियत, औकात, आमदनी से बढ़कर ठाट-बाट बनाना, दूसरों को ठगने जैसी कुचेष्टा ही है। ऐसे फिजूलखर्ची लोग कर्जदार हो जाते हैं, चुका पाते नहीं, मित्रों के बीच न उनका विश्वास रह जाता है न सम्मान। जिनसे पैसा लिए हैं उनसे आँखें चुराते हैं और नये शिकार तलाश करते हैं। ऐसे लोग पग-पग पर डरते हैं कि कर्ज देने वाला उनकी इज्जत खराब न कर दे।

सचमुच किसी आकस्मिक मुसीबत में फँस जाने वाला व्यक्ति मित्रों की सहानुभूति का पात्र होता है। वस्तुस्थिति समझ कर लोग उसका सम्मान कम नहीं करते। पर जो फिजूलखर्ची की अनैतिकता अपना कर कर्जदार बना है उसे हर जगह शर्मिंदगी और लानत का ही सामना करना पड़ेगा। अनैतिकता का हर कदम डराने वाला होता है। चोर और व्यभिचारी, बेईमान और अनाचारी व्यक्ति पग-पग पर अपने आसपास संकट मँडराता देखते हैं। हर किसी को आशंका भरी दृष्टि से देखते हैं कि कहीं किसी को उसके कपट जाल का पता न चल गया हो और कोई उसका भंडाफोड़ न कर दे। यह आशंका अपने आप में इतनी डरावनी है कि मिलने वाले दंड की अपेक्षा वह पहले ही मानसिक श्रेष्ठता, स्वभाव और सद्‌गुणों का नाश कर चुकी होती है।

डर का एक बड़ा कारण अज्ञान भी है। आदिम काल में मनुष्य को सूर्य ग्रहण, बिजली की कड़क, पुच्छल तारे आदि के बारे में कुछ पता न था। वह इनसे डरता था और देवता समझ कर उनके कोप से बचने के लिए तरह-तरह के पूजन-बलिदान करता था। पीछे जब वास्तविकता समझ में आ गई तो वह डर सहज ही चला गया। भूत-पलीतों का डर अब धीरे-धीरे समाप्त होता चला जाता है।

ग्रह दशा—जन्म कुंडली जैसी फलित ज्योतिष की मान्यताएँ भी लगभग ऐसी ही हैं। कभी सोचा जाता था कि आसमान में रहने

वाले ग्रह-नक्षत्र मनुष्यों पर कोप-अनुग्रह करते हैं, इसी से उसे सुख-दुःख मिलते हैं। अब यह प्रकट हो गया है कि यह आकाश में स्थित पिंड निर्जीव हैं, बहुत दूर हैं और व्यक्तिगत रूप से उनका किसी को दुःख-सुख पहुँचा सकना असंभव है। यह तथ्य समझ में आने पर लोगों ने ग्रह-नक्षत्रों से—कल्पित देवी-देवताओं से डरना छोड़ दिया है। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अनेक प्रकार के डर स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

जिसका भय करना चाहिए उसका नहीं किया जाता और जिनका डर करने की कतई जरूरत नहीं, उनसे डरते रहते हैं। पाप से डरना चाहिए, कर्मफल से डरना चाहिए और ईश्वर के न्याय से। पर इनसे कौन डरता है ? चोरी करते हुए, भोले लोगों को ठगते हुए, छल प्रपंच रचते हुए, नशेबाजी, व्यभिचार, बेईमानी, असत्य भाषण करते हुए कौन डरता है ? डरते हैं मिट्टी के पुतले मनुष्य से—लोहे के टुकड़ों से बने हथियारों से—काल्पनिक भूत-पलीतों से और दीन-दुर्बल, कुकर्मी आतंकवादियों से—हमें अपने इस अज्ञान को समझना चाहिए और उन अकिंचन व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों से—डरने से इंकार कर देना चाहिए जो वस्तुतः तुच्छ एवं असमर्थ हैं। डरना ही हो तो ईश्वर की दंड व्यवस्था और दुष्प्रवृत्तियों से डरना चाहिए, दुःख तो हमें इन्हीं के कारण मिल सकता है।

इस संसार में भयभीत होने के कोई भी कारण नहीं हैं सिवाय अपने मन की कमजोरी के। यह दुर्बलताएँ विचारों और भावनाओं में परिपक्वता के अभावस्वरूप ही उत्पन्न होती है। यदि विचार, विवेक और समझ-बूझ से काम लिया जाए तो इस प्रकार की दुर्बलताओं का निवारण किया जा सकता है। यद्यपि ये दुर्बलताएँ उत्पन्न होती ही असावधानीवश है। फिर भी यदि इन्हें दूर करने के प्रयास किये जाएँ तो कोई कारण नहीं कि उनका परिमार्जन न किया जा सके।

❑ ❑

यों नष्ट होती हैं शक्ति क्षमताएँ

मस्तिष्क यों विलक्षण क्षमताओं का केंद्र है, पर सर्वसाधारण न उन क्षमताओं का उपयोग कर पाते हैं और न उनके बारे में जानते ही हैं। ये क्षमताएँ जाग्रत् हो सकें, इस तरह की परिस्थितियाँ मनुष्य के लिए स्वयमेव ही उपलब्ध हैं परंतु अपनी ही गलतियों के कारण वह उन शक्तियों, क्षमताओं को नष्ट करता रहता है। इन गलतियों के दुष्परिणाम चिंता, तनाव, आत्महीनता और विविध भाँति के मनोरोगों के रूप में उत्पन्न होते रहते हैं। इन्हीं कारणों से मनुष्य अस्त-व्यस्त, दीन-हीन, क्षुद्र, दुर्बल और पंगु-अकर्मण्य बनता चलता है।

ये विकृतियाँ क्यों उत्पन्न होती हैं ? इनके क्या दुष्परिणाम होते हैं ? यह यदि जान लिया जाए तो इनको समाप्त करने का मार्ग भी मिल सकता है और इनके कारण होने वाले दुष्परिणामों से भी बचा जा सकता है। सौ में से निन्यानबे मानसिक विकृतियाँ तो मनुष्य के सोचने-समझने के दूषित ढंग से ही उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए चिंता को ही लें। जन्म के समय सभी निश्चिंत और प्रफुल्लित रहते हैं। बंद मुट्ठियाँ लेकर जन्मने वाले बच्चे के पास भौतिक दृष्टि से क्या होता है ? कुछ भी नहीं। फिर वह कौन सी ज्योति है, जो एक शिशु अपने नन्हे हृदय में धारण किये इस संसार में विनोद-उल्लास की अभिवृद्धि करता रहता है। सर्वथा अकिंचन, असमर्थ और नासमझ बच्चे की सक्रियता भी इस समय देखते ही बनती है, लेकिन बड़ा होने पर वही व्यक्ति, सही स्वस्थ दृष्टिकोण एवं समुचित प्रशिक्षण के अभाव में, जहाँ एक ओर महत्त्वाकांक्षाओं के नाम पर ऊँची कल्पनात्मक उड़ानों का अंबार लगा लेता है, वहीं दूसरी ओर काल्पनिक चिंताओं के भयंकर नागों

और प्रचंड महासर्पिणियों को पाल-पोसकर उनकी वंश वृद्धि करता जाता है।

अधिकांश व्यक्ति अधिकतर समय किसी न किसी चिंता के तनाव से व्यग्र-बेचैन रहते और तड़पते रहते हैं। चिंता सदा बड़ी या विशेष बातों को ही लेकर नहीं होती। कई बार तो बहुत ही मामूली, छोटी-छोटी बातों को लेकर लोग चिंता पालते रहते हैं। मन तो है— जैसा अभ्यास डाल दिया जाए, बेचारा वफादार नौकर की तरह वैसा ही आचरण करने लगता है। जब अपनी चिंता नहीं होती तो पड़ौसियों के व्यवहार-विश्लेषण और छिद्रान्वेषण द्वारा चिंता के नये-नये आधार ढूँढ़ निकाले जाते हैं। या फिर समाज के बिगड़ जाने, लोगों में भ्रष्टाचार फैल जाने, खाद्य पदार्थों में मिलावट की प्रवृत्ति बढ़ने, दो लड़के-लड़कियों द्वारा अंतर्जातीय प्रेम-विवाह कर लेने, मुहल्ले की किसी बारात की व्यवस्था ठीक न होने, किसी नवविवाहित दंपत्ति का 'पेयर' ठीक न होने आदि की गंभीर चिंताएँ प्रसन्नता और एकाग्रता को चाट जाने के लिए पर्याप्त ही सिद्ध होती हैं। मोटर में बैठे हैं, तो चिंता लगी है कि कहीं मोटर के सामने से आ रहे किसी ट्रक या बस की भिड़ंत न हो जाए अथवा चालक निद्राग्रस्त न हो जाए, वायुयान में जा रहे हैं, तो चिंता हो गई है कि कहीं यह विमान सहसा नीचे न गिर जाए।

धर्मपत्नी किसी से सहज सौम्य वार्तालाप कर रही है, तो पति महोदय को चिंता हो गई है कि कहीं यह व्यक्ति इस वार्तालाप को अपने परिचितों के बीच गलत रूप में न प्रचारित करे। याकि पत्नी कहीं उससे मेरी बुराई न करती हो अकेले में। कहीं धर्मपत्नी स्वभाव से मितभाषी हुई, तो चिंता है कि लोग इसे मूर्ख या घमंडी न समझ बैठें। इसी तरह पति महोदय कार्यालय से देर से आये तो पत्नी चिंतित है कि कहीं मेरे प्रति इनका प्रेम घट तो नहीं रहा। ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें उनके परिचित यदि व्यस्तता में या कि अन्यत्र ध्यान दिये होने के कारण किसी दिन नमस्कार करना भूल जाएँ,

तो उन्हें चिंता होने लगती है कि कहीं मेरे प्रति इसकी भावना तो परिवर्तित नहीं हो गई।

है तो चिंता एक काल्पनिक उड़ान मात्र किंतु व्यक्ति उसे यथार्थ की तरह मानकर तनाव और भय से भर उठते हैं। यह बैठे ठाले अपने शरीर संस्थान को एक अनावश्यक श्रम में जुटा देने तथा कष्ट में फँसा देने वाली क्रिया है। इसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम होता है अपच। क्योंकि उदर-संस्थान स्वाभाविक गति से कार्य नहीं कर पाता। फिर अनिद्रा, सिर दर्द, सर्दी-जुकाम आदि का जो क्रम प्रारंभ होता है वह हृदय रोग तक पहुँचकर दम लेता है। मनःशक्ति के अपव्यय से एकाग्रता और मनोबल का ह्रास होता है, स्मरणशक्ति शिथिल होती जाती है और जीवन में विषाद ही छाया रहता है।

चिंता करने का अभ्यस्त मन सोते में देखे गये चित्र-विचित्र स्वप्न दृश्यों का मुफ्त के सिनेमा के रूप आनंद लेना तो दूर, उसकी अजीबो-गरीब व्याख्याएँ ढूँढता-पूछता रहता और अंधविश्वास संत्रास तथा मतिमूढ़ता की एक निराली ही दुनिया रचता रहता है। वह हताश और भयभीत रहता है तथा अपनी वास्तविकता क्षमता का एक बड़ा अंश अनायास ही गँवा बैठता है। विपत्तियों का सामना करने में, शत्रुओं से संघर्ष में जो शक्ति व्यय की जाने पर सफलता और आनंद प्रदान करती, वह काल्पनिक भय के दबाव से क्षत-विक्षत होती रहती है। ऋण पटाने के लिए किये जाने वाले पुरुषार्थ में यदि वही शक्ति नियोजित की गई हो, जो कर्ज के भार से लदे होने की चिंता में बहाई जा रही है, तो मस्तक ऊँचा होता है और चित्त प्रफुल्ल। चोर-लुटेरों की, काल्पनिक विपदाओं की चिंता व्यक्ति की शक्ति को लीलती रहती है। असफल रह जाने की चिंता भी कई लोगों की मृत्यु के समान दुःखदायी प्रतीत होती है। वे इस सामान्य तथ्य को भुला बैठते हैं

कि असफलता और सफलता तो सभी के जीवन में आती-जाती रहती हैं।

अपने दुराचरण और अपराध पर तो ग्लानि स्वाभाविक है। पर उसकी भी चिंता करते रहने से मन क्षेत्र में कुंठा और विषाद की ही वृद्धि होगी। आवश्यक है वैसे आचरण की अपने भीतर विद्यमान जड़ों को तलाश कर उन्हें उखाड़ फेंकना तथा प्रायश्चित्त के रूप में समाज में सत्प्रवृत्ति के विस्तार में अपना योगदान देना, कोई सृजनात्मक विधि अपनाना जिससे मन का वह भार हल्का हो सके।

चिंता सदैव भय उत्पन्न करती और आत्मविश्वास का हरण करती है। भविष्य में आने वाली कठिनाइयों, उपस्थित होने वाले अवरोधों-उपद्रवों, आ पड़ने वाली विपत्तियों-प्रतिकूलताओं और प्राप्त होने वाली विफलताओं की कल्पना-जल्पना, आशंका-कुशंका चित्र-विचित्र रूप धारणकर व्यक्ति को भयभीत करती और साहसहीन बनाती रहती है। आत्मविश्वास नहीं रहे तो अपने को ही प्राप्त सफलताओं तक का स्मरण नहीं रहता, किसी दिशा में तेजी से चल पड़ने का साहस नहीं जुट पाता, जबकि प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए आत्मविश्वासजन्य साहस की सर्वोपरि आवश्यकता है। चिंतन तो अनिवार्य है। किसी रास्ते या कार्य-विशेष को चुनने के पहले उसके सभी पहलुओं पर भली-भाँति चिंतन, मनन करना आवश्यक है, पर निर्णय लेने के बाद अभीष्ट प्रयोजन के लिए तत्परतापूर्वक जुट जाना होता है। चिंता का तब अवकाश ही नहीं रहना चाहिए। चिंता तो निष्क्रियता की उत्पत्ति भी है और उत्पादक भी। चिंता से विक्षुब्ध मन, शक्ति का कितना ह्रास करता है, यह यदि लोग जान जायें तो कभी उद्विग्नता और तनाव की जननी चिंता को प्रश्रय न दें। अधिकांश लोग प्रतिकूल परिस्थितियों में चिंताग्रस्त होकर हताश के गहन अंधकार के विवर्तों में फँसकर अपना सब कुछ गँवा बैठते हैं, किंतु मनस्वी, विवेकी व्यक्ति ऐसी विषम स्थितियों में अधिक साहस और सक्रियता के साथ आगे

बढ़ते हैं तथा विजय प्राप्त करते हैं। आशा और उल्लास मनुष्य-जीवन के चिरंतन सुरभित पुष्प हैं। चिंता की काली छाया से इन्हें कुम्हलाने न देने पर ही मानव-जीवन सुगंधित प्रमुदित रह सकता है और अन्यों से भी सुरभि-सुषमा वितरित कर सकता है।

चिंता इन सुरभि-सुषमा को समाप्त कर डालती है। इसीलिए चिंता को चिता से भी बढ़कर कहा गया है। चिता यों मृत्यु के पश्चात् जलाती है, पर चिंता की ज्वाला जीवित व्यक्ति को ही जलाना आरंभ कर देती है। मस्तिष्क चिंता से झुलस कर निस्तेज और धुआँ से भरा रहता है। उसे चारों ओर धुआँ-धुआँ ही नजर आता है, ज्योति और उल्लास तो कहीं दीखता ही नहीं।

एक जर्मन मनोवैज्ञानिक ने चिंताग्रस्त लोगों का सर्वेक्षण किया। ज्ञात हुआ कि मात्र ८ प्रतिशत चिंताएँ ऐसी थीं, जिन्हें वजनदार कहा जा सकता था। १० प्रतिशत ऐसी थीं, जो थोड़े प्रयास से सुलझ गईं। १२ प्रतिशत स्वास्थ्य संबंधी सामान्य चिंताएँ थीं, जो सामान्य उपचार से ही सुलझ गईं। ३० प्रतिशत ऐसी थी, जो थीं तो वर्तमान से ही संबंधित पर जो साधारण सूझ-बूझ से सुलझ गईं। जो सर्वाधिक ४० प्रतिशत चिंताएँ काल्पनिक समस्याओं और आशंकाओं से संबंधित थीं।

ओसा जान्स का कथन है—"यदि मैं सतत सृजनात्मक चिंतन एवं कर्म में संलग्न रहने की विधि न सीख पाता तो औरों की तरह मुझे भी चिंता के कारण घुल-घुल कर मरना होता।"

व्यस्तताओं विषमताओं से भरे संसार में चिंता के झोंके यदा-कदा आते रहते हैं, पर उन्हें कभी भी चित्त पर अपना प्रभाव अंकित नहीं करने देना चाहिए। मानव जीवन एक सुरम्य उद्यान है। इसमें आनंद-उल्लास की, सुन्दर, कोमल संवेदनाओं के रूप में रंग-बिरंगे पुष्पों की कमी नहीं है। इन हँसते-मुस्कराते फूलों को चिंता की ज्वाला से झुलसने से बचाए रहने की कला का अभ्यास सभी को करना ही चाहिए।

➢ चिंता की सहोदरी खिन्नता

चिंता के समान ही शरीर मंदिर को ध्वस्त करने वाली एक दूसरी मानसिक दुर्बलता है।

संसार में ऐसे न जाने कितने व्यक्ति देखने को मिल सकते हैं, जो हर समय कुछ सोचते-विचारते से रहते हैं। उनका मुख मलीन और मुद्रा गंभीर रहती है। काम करते हैं तो स्पष्ट झलकता है कि यह काम कर रहा है, उसमें उसका मनोयोग रंचमात्र भी नहीं हैं, यों ही हाथ-पैर चलाता हुआ सक्रियता की अभिव्यक्ति ही कर रहा है। केवल उनकी क्रिया देखने से ही नहीं, काम का स्वरूप देखकर भी पता चल जाता है कि यह काम उत्साहपूर्वक, मनोयोग द्वारा नहीं किया गया है। बेगार टाली गई है या कोई मजबूरी पूरी की गई है। किसी भी काम पर मनुष्य के मन की छाप पड़ना स्वाभाविक ही है। उत्साह के साथ मन लगाकर कर्तव्यपूर्वक किए हुए किसी भी कार्य की सफलता, सुन्दरता, व्यवस्था तथा समयांश स्पष्ट बता देता है कि इसका करने वाला कोई जीवंत, उत्साही और कर्मों के धर्म और उसकी पवित्रता को जानने वाला उसमें आस्था रखने वाला व्यक्ति है। इसके विपरीत किसी भी ऐसे काम को, जिसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व न झलका हो, जिनमें सफाई सुव्यवस्था और आकर्षण का अभाव है अथवा जिसे देखकर मन प्रसन्न न हो जाए, आँखें तृप्त न हो आयें—देखकर विश्वास कर लीजिए कि इस काम का करने वाला अदक्ष, अस्वस्थ अथवा निरुत्साही व्यक्ति है।

इस प्रकार की असफल अभिव्यक्तियों वाला अवश्य ही कोई ऐसा व्यक्ति होता है, जो व्यग्र, चिंतित, खिन्न अथवा निराश मनोदशा वाला होता है। जिन लोगों की आदत खिन्न और अप्रसन्न रहने की हो जाती है, वे एक प्रकार से मानसिक रोगी ही होते हैं। किसी काम, किसी बात और किसी व्यवहार में उनका मन नहीं लगता। उनके अन्दर एक तनाव की स्थिति बनी रहती है और वे

प्रतिक्षण मानसिक खींचातानी में पड़े रहते हैं, जिसका फल यह होता है कि उनकी बहुत-सी ऐसी जीवन शक्ति जलकर भस्म हो जाती हैं, जिसका सदुपयोग करने से सफलता के पथ पर, उन्नति के शिखर पर अनेक विश्वस्त कदमों को बढ़ाया जा सकता है।

परमात्मा ने मनुष्य को जीवन दिया, जीवनी शक्ति दी, सक्रियता तथा कार्य के प्रति अभिरुचि प्रदान की—इसीलिए कि वह अपने कर्तव्यों में सुचारुता का समावेश करके संसार को सुंदर बनाने, सुखी करने में अपना योगदान करे और उसी माध्यम अथवा मार्ग से स्वयं भी अभ्युदय की ओर बढ़े, अपना और अपनी आत्मा का उपकार करे, सुखी, संपन्न और संतुष्ट जीवन पाकर यह अनुभव कर सके कि मानव-जीवन में सुंदरताओं के भंडार भरे पड़े हैं, उसके सत्य स्वरूप, सत्-चित्-आनंद के विषय में सत्य ही कहा-सुना गया है, किंतु होता यह है कि लोग अपने अंदर खिन्नता, अप्रसन्नता अथवा निराशा का रोग पाल कर सर्वसंपन्न मानव जीवन को आग और अंगारों का मार्ग बना लेते हैं। सफलता, अभ्युदय और प्रकाश की ओर अग्रसर होने के स्थान पर विफलता, अवनति और अंधकार के शिकार बन जाते हैं। यह बहुत ही खेद का विषय है, किंतु इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि वे यह नहीं समझते कि इस प्रकार की मनोदशा से वे अपनी और इस संसार की कितनी गहरी क्षति कर रहे हैं और यदि समझ कर भी अपना सुधार करने खिन्नता की बेड़ियों से छूटने का प्रयत्न नहीं करते, तब तो इस पर होने वाले दुःख का पारावार ही नहीं रह जाता, खिन्नता अथवा अप्रसन्नता की स्थिति अकल्याणकर है—इससे शीघ्र ही छूट लेना अच्छा है। खिन्न रहकर जीवन को नष्ट करने का किसी भी मनुष्य का अधिकार नहीं है।

खिन्न मनःस्थिति वाले व्यक्ति को विक्षेप का रोग लग जाता है, कहीं भी किसी बात में उसका मन नहीं लगता, घर में प्रसन्न बच्चों की क्रीड़ा, उनका उछलना-कूदना, खेलना और प्रसन्न होना

उसे ऐसा अखरता है मानो वे भोले-भाले प्रसन्न बच्चे उसका अहित कर रहे हों। वह उनकी क्रीड़ा देखने पर प्रसन्न होने, हँसने और उनके क्रीड़ा-कल्लोल में सहभागी होने के बजाय उन्हें डाटने-मारने लगता है अथवा उससे विरक्त होकर, दुःखी होकर दूर हट जाता है अथवा बाहर चला जाता है। यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि उसका घर प्रसन्नता और उल्लास का आगार बना हुआ है, किंतु खिन्न व्यक्ति उसका आनंद नहीं ले सकता, उलटे अपने मानसिक वैपर्य के कारण वह पारिवारिक सुख उसे शालता और कष्ट देता है। इसे भाग्य की वंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

बच्चों की क्रीड़ा ही नहीं खिन्न मना व्यक्ति को अपनी पत्नी का विनोद, उसकी मुस्कान, उसका कथन अथवा अन्य प्रियतादायक बातें अच्छी नहीं लगतीं। पत्नी हँसती है तो वह गुर्रा उठता है। पत्नी कोई बात कहती, पूछती अथवा सुनाती है तो काटने दौड़ता है। अस्वस्थ मन वालों की अनुभव शक्ति कुछ इस प्रकार की उलटी हो जाती है कि उन्हें अनुकूल से अनुकूल बात भी प्रतिकूल और सुंदर से सुंदर वातावरण दुःखमयी लगने लगता है।

खिन्न व्यक्ति बाल-बच्चों के बीच तो त्रस्त रहता ही है, बाहर जाकर भी उसे शांति एवं समाधान नहीं मिल पाता। कुछ ही समय में मित्रों के संपर्क से, उनके साथ मनोविनोद और वार्तालाप में ऊब उठता है। उसे उपयोगी से उपयोगी बात-चीत बेकार की बकवास लगती है। उसे बाह्य संसार का कोलाहल, उसकी हलचल उसका क्रियाकलाप काटने को दौड़ता है। उपवन अथवा एकांत में भी उसका चित्त शांति से वंचित रहता है। खिले हुए फूलों का सौंदर्य और कलरव करती हुई चिड़ियों का सुख उसके लिए असंभव रहता है। कुछ ही देर में उपवन का सौंदर्य उसके लिए वन की भयानकता में बदल जाता है। एकांत अथवा निर्जन स्थान में तो

उसकी दशा और भी खराब हो जाती है। वहाँ पहुँचते ही उसके मन की भयानकता, बाह्य निरसता में मिलकर वातावरण को इतना असह्य बना देती है कि उसे वह स्थान श्मशान जैसा लगने लगता है। उसे अपने से, अपनी छाया से भय लगने लगता है, जिससे वह उस शांत स्थान में भी शांति नहीं पा पाता, जिसमें पहुँचकर किसी भी स्वस्थ चित्त व्यक्ति को नये विचार, नूतन भाव और एक अलौकिक निस्तब्धता की उपलब्धि हो सकती है।

सुख-शांति के स्थानों में, घर और बाहर में किसी का उद्विग्न रहना, त्रास एवं संताप पाना कितना बड़ा दंड हो सकता है। यह दंड किसी बड़े पाप का ही परिणाम हो सकता है और वह पाप निश्चित रूप से वह पिशाचनी खिन्नता ही है, जिसे अज्ञानी व्यक्ति अपने मनमंदिर में बसा लेता है, जिसमें सद्विचारों और शांति-संतोष के देवी-देवताओं की स्थापना करनी चाहिए। जितना शीघ्र इस पाप से छूटा और बचा जा सके उतना ही कल्याणकारी है।

खिन्नता के दोष से मनुष्य के मन में विक्षेप का विकार उत्पन्न हो जाता है, जिससे न तो उसका मन किसी काम में लगता है और न किसी स्थान में उसे शांति मिलती है। जहाँ आसपास लोग हँसते-बोलते, अपना काम-काज करते, संसार के सभी व्यवहारों को निभाते, उन्नति और प्रगति करते हुए दिखाई देते हैं, वहाँ मलीन मन व्यक्ति हर समय शोक-संताप में जलता और रोता-झींकता रहता है। संसार का कोई भी काम वह ठीक से नहीं कर पाता। अभी एक काम प्रारंभ किया कि शीघ्र ही उसी क्षण छोड़कर दूसरा करने लगा। अभी कहीं जाने का उत्साह जागा कि दूसरे ही क्षण अंदर बैठी खिन्नता की डायन ने उसे क्षीण उत्साह का गला दबा दिया। खिन्न व्यक्ति का मनोबल नष्ट हो जाता है, उसका आत्मविश्वास उसे छोड़कर चला जाता है, जिससे वह संसार में आगे बढ़ने, अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहता।

चिंता और खिन्नता जैसी मानसिक विकृतियाँ दुर्बल मनःस्थिति अथवा मानसिक रुग्णता के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होती हैं। इस तरह की मानसिक दुर्बलताएँ व्यक्ति के स्वभाव में रचपच जाती है, तो वह न केवल मानसिक दृष्टि से अपितु शारीरिक दृष्टि से भी अकर्मण्य, निरूपाय और कुछ न कर सकने की स्थिति में आ जाता है। स्वभाव में सम्मिलित होने वाली मानसिक दुर्बलताओं में से एक है बिना सोचे समझे कभी भी कुछ भी कर डालने की आदत। इस दुर्बलता को सनकीपन भी कहा जा सकता है।

➢ परिपक्वता का अभाव

सनकें जब अपने पूरे उभार पर होती हैं तो वे अपने वाहन को इस कदर आवेशग्रस्त कर देती हैं और विश्वासों की इतनी गहरी भूमिका में उतार देती हैं कि वह बेचारा संभव-असंभव का भी भेद भूल जाता है, अपनी तर्क शक्ति गँवा बैठता है और जो कुछ भी उसे सनक ने मान बैठने के लिए कहा था उन्हीं पर पूरा विश्वास करने लगता।

सनकी की मनःस्थिति के अनुरूप वे कल्पनाएँ कई बार एक सचाई की तरह मस्तिष्क में जड़ जमाती हैं और धीरे-धीरे व्यक्ति गहरा विश्वास करने लगता है कि वस्तु-स्थिति वही है जो उसके कल्पना क्षेत्र में उमड़-घुमड़ रही है। ऐसी स्थिति में उसके लिए कल्पना—कल्पना न रहकर एक सचाई बन जाती है और वह अपनी ही उड़ानों में मान्यताओं में मकड़ी की तरह बेतरह जकड़ जाता है। पूर्ण या आंशिक भावोन्माद की यह स्थिति कितने ही लोगों में देखी गई है। पागलखाने के डॉक्टर ऐसे लोगों को पागल नहीं कह सकते क्योंकि अमुक विशिष्ट सनक के अतिरिक्त अन्य बातों में वे साधारण लोगों की तरह सोचते और काम करते हैं। यदि वे पागल होते तो सभी बातों में पागल होते। डॉक्टर अधिक से अधिक उन्हें सनकी कह सकते हैं।

सनक का एक विचित्र उदाहरण देखिए। अमेरिका में एक बहुत ही सुसंपन्न और सुशिक्षित व्यक्ति अंतर्ग्रहीय उड़ानों की कल्पना करते-करते सनक की इस स्थिति में जा पहुँचा, जहाँ वह मान्यता बना बैठा कि वह शुक्र ग्रह के बारे में न केवल बहुत कुछ जानता भी है वरन् उस लोक की यात्रा तक कर आता है। वह शुक्र के राजकुमार का मित्र है और ऐसा अंतरिक्ष यान बनाने की विधि जान चुका है जो अंतर्ग्रही यात्राएँ बड़ी सरलता से और कम खर्च में कर सकें।

यह व्यक्ति दो करोड़पति कंपनियों का अध्यक्ष था। उम्र पचपन साल। नशेबाजी से बिल्कुल दूर, विवाहित, दो बच्चों का पिता, धार्मिक प्रकृति, नियमित रूप से गिरजा जाने वाला, निवासी वाशिंगटन का, नाम हैराल्ड जैसी बर्नी।

अंतरिक्ष यात्राओं के संबंध में अति भावुकतापूर्वक एकांकी चिंतन करते-करते उसने यह मान्यता बना ली कि वह दो बार शुक्र की यात्रा कर चुका है—"वहाँ के राजकुमार को अपना मित्र बना चुका है और ऐसी एक कंपनी बनाने में उसका सहयोग प्राप्त कर चुका है, जो उसके कल्पित 'मैगनेटिक प्लस मोडलेटर' सिद्धांत के अनुसार सस्ते, सरल और सुविधाजनक अंतरिक्षयान बनाया करेगी। उसने इस कंपनी का नाम रखा "प्रोपल्सन रिसर्च लेबोरेटरीज"। बर्नी अपने को संसार का सर्वप्रथम शुक्र ग्रह यात्री मानता था और उसने अपनी दो यात्राओं का विवरण बताने वाली पुस्तक "शुक्र ग्रह में दो सप्ताह" भी लिखी, वह ११८ पृष्ठ की थी। उसकी सीमित प्रतियाँ टाइप की गई थीं, प्रेस में नहीं छपाई गई थी, क्योंकि विषय 'अत्यंत गोपनीय था।' इस आविष्कार के आधार पर "अरबों खरबों की संपत्ति कमाई" जानी थी।

बर्नी अपनी सनक में पूरी तरह खो गया था। कल्पना और यथार्थता का अंतर भुला देने वाली उसकी मनःस्थिति बन गई थी। उसने आवेश में अपने १६६,००० डालर के शेयर बेच डाले। आश्चर्य यह कि जिस आत्मविश्वास के साथ बातें की उससे

प्रभावित होकर अनेक सुसंपन्न लोग उसकी बातों पर यकीन करने लग गए और उसके शुक्र ग्रह अभियान में सम्मिलित हो गये उस कार्य के लिए इन लोगों ने भी अपना प्रचुर धन लगा दिया। सनक का स्वरूप इतना बड़ा योजनाबद्ध हो सकता है, इसका इतना आश्चर्यजनक उदाहरण अन्यत्र कदाचित् ही मिलेगा।

बर्नी की महिला सेक्रेटरी 'एन्जेलिका' पूरी तरह इन गतिविधियों पर विश्वास करती थी। उस बेचारी को पता तक न था कि जिस प्रयोजन के लिए वह इतनी दौड़-धूप कर रही है वह एक सनकी की निरुद्देश्य और निष्फल मिथ्या कल्पना मात्र थी। एक दिन बर्नी को और भी विचित्र सनक चढ़ी, उसने 'शुक्रग्रह से अपनी सेक्रेटरी को वहाँ के राजकुमार यूसीलस' की ओर से फोन कराया कि इस ग्रह पर आकार बर्नी बीमार हो गये हैं और अपने साथियों के नाम अमुक संदेश नोट कराते हैं, जो उन तक पहुँचा दिया जाए। सेक्रेटरी ने वैसा ही किया। इसके बाद कुछ समय उपरांत ही उसके मरने का समाचार आ गया।

सेक्रेटरी ने उचित समझा कि अमेरिका का भाग्य बदल देने वाली इतनी बड़ी योजना को अधूरी न पड़ी रहने दे वरन् राष्ट्रपति को बता दे। बदहवासी में किंतु पूरे आत्मविश्वास के साथ एंजेलिका राष्ट्रपति आइजन हावर से मिली। बर्नी की दो शुक्र यात्राओं से लेकर उसका अंतरिक्ष यान बनाने की योजना और उस लोक में जाने का पूरा विवरण बताया और सुझाव दिया कि वे स्वयं इस कार्य को हाथ में लें और आगे बढ़ायें।

राष्ट्रपति ने इस रोमांचक एवं विचित्र विवरण पर विश्वास न कर उनसे सारा मामला गुप्त पुलिस के उच्च अधिकारियों को सौंप दिया। पुलिस ने छान बीन की तो शुक्र पर मरा हुआ 'बर्नी' धरती पर ही जीवित अवस्था में, अर्धविक्षिप्त स्थिति में पाया गया। वह अपने वतन से बहुत दूर एक साइनबोर्ड बनाने वाले के यहाँ पेट भरने जितनी मजदूरी कर रहा था, भिखारियों जैसे

फटे हाल में रहता हुआ पुलिस ने उसे पकड़ लिया। अदालत में उस पर झूठी अफवाहें फैलाने और धोखाधड़ी करने के अपराध में मुकदमा और इसके लिए अदालत ने उसे जेल की सजा भी सुना दी।

मानसिक रोगों में सनक का अपना स्थान है। यह रोग दिन-दिन बढ़ रहा है। लोग तर्क शक्ति का उपयोग नहीं करते, विवेक पर जोर नहीं देते। मानसिक आलस्य और नशेबाजी का सम्मिश्रण मानसिक स्तर को इतना दुर्बल बना देता है कि उसमें सनकों के पलने की संभावना ही चली जाती है।

ब्रिटेन के अस्पतालों में अब मानसिक रोगों के शिकार व्यक्तियों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। इनमें न केवल प्रौढ़ व्यक्ति वरन् छोटे बच्चे भी शामिल हैं। बड़ी आयु के लोग चिंताओं, मानसिक दबावों अथवा नशेबाजी आदि कारणों से विक्षिप्त हो सकते हैं, पर छोटे बच्चे क्यों इन रोगों के शिकार होते हैं ? इस संबंध में वहाँ बहुत अधिक चिंता की जा रही है। इस संबंध में सर जूलियस हक्सले के नेतृत्व में जो शोध आयोग बना, उसने रिपोर्ट दी है कि पाँच में से एक मानसिक रोगी यह व्यथा अपने माँ-बाप से लेकर आता है। अर्धविक्षिप्त और सनकी नर नारी अपेक्षाकृत अधिक बच्चे उत्पन्न करते हैं और उन बालकों में ये बीमारियाँ जन्म से ही आती हैं, जो आयु वृद्धि के साथ-साथ अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगती हैं।

शारीरिक और मानसिक उच्छृंखलता बरतने से विवेक बुद्धि खीजने लगती है और सोचने लगती है कि जब अपनी विवेचना और निष्कर्ष का कुछ उपयोग ही नहीं, जो चाहा सो बरता वाली नीति चल रही है, तो फिर उखाड़-पछाड़ करने का क्या लाभ ? ऐसी थकी बुद्धि की पहरेदारी शिथिल पड़ने पर सनकों को फलने-फूलने का अवसर मिल जाता है और ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिनमें से एक का वर्णन ऊपर दिया गया है।

गहराई से विचार करें तो हममें से अधिकांश व्यक्ति अपने ढंग के सनकी हैं। जीवन का लक्ष्य, स्वरूप, उपभोग आदि सब हम लगभग पूरी तरह भूल चुके हैं। उपलब्ध अद्‌भुत क्षमताओं, अनुपम परिस्थितियों और दिव्य अनुदानों का क्या सदुपयोग हो सकता है ? यह हमें तनिक भी नहीं सूझता। जो न सोचने योग्य है—वह सोचते हैं और जो न करने योग्य हैं—सो करते हैं, मिथ्या विडंबनाओं में उलझे और मोद मनाते रहते हैं। अंततः पापों की गठरी सिर पर बाँध कर अंधकारमय भविष्य के गर्त में गिरने के लिए चले जाते हैं। क्या यह सनकीपन नहीं है ? आत्मनिरीक्षण करें, अपनी वर्तमान गतिविधियों पर विचार करें, तो प्रतीत होगा कि अमेरिका के उपरोक्त सनकीपन से अपना भी सनक भरा जीवन क्रम किसी प्रकार कम नहीं है।

सनक की बढ़ती हुई बीमारी लोक व्यवहार और दृष्टिकोण निर्धारण के दोनों ही क्षेत्रों को अपने चंगुल में कसती चली जा रही है, यह कम चिंता का विषय नहीं है।

सनकीपन जिस प्रकार स्वभाव में सम्मिलित एक मानसिक दुर्बलता है, उसी प्रकार दंभ भी एक मानसिक दुर्बलता ही है। सनकी व्यक्ति अपनी अव्यावहारिक कल्पनाओं के मिथ्या लोक में रमण करता रहता है, वही क्षेत्र के कारण व्यक्ति अपने आपके बारे में अतिरंजित घटनाएँ बना लेता है।

➢ दंभ की एक दुर्बलता

यह कोई आवश्यक नहीं है कि दंभ अभी उच्च वर्ग के लोगों में ही पाया जाए। दंभ का दुर्गुण हर वर्ग और हर स्थिति के व्यक्तियों में उत्पन्न हो सकता है।

यह घटना बहुश्रुत है कि प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात के पास एक बार कोई व्यक्ति फटे-पुराने कपड़े पहन कर आया। उसके शरीर पर तार-तार कपड़े थे, फिर भी उसकी चाल-ढाल, बात करने

का अंदाज और मुखमुद्रा में एक दर्प टपकता था। सुकरात से आकर उसने कुछ अटपटे प्रश्न किये और कहा—'महात्मन् ! मैं इसके उत्तर चाहता हूँ।'

प्रश्न करने और उत्तर पूछने के बाद उस व्यक्ति ने सुकरात की ओर इस प्रकार देखा जैसे कोई विद्वान् अपनी तुलना में कम जानकार ज्ञानी से प्रश्न करता है। अंतर्दृष्टि संपन्न सुकरात ने उस व्यक्ति के मनोगत भावों को जान लिया और पूछा—'मित्र, तुम इन प्रश्नों का उत्तर किसलिए जानना चाहते हो।'

'यह तो आप जानते ही होंगे। लोग आपके पास किस आशय से आते हैं'—स्पष्ट था कि वह जिज्ञासा का समाधान करना व्यक्त कर रहा था, परंतु अहंकार के मद में उन्मत्त व्यक्ति अपना मंतव्य सीधे-सीधे व्यक्त करने से कतराता है। सुकरात जानते थे कि इस व्यक्ति को उत्तर देकर व्यर्थ के बाद-विवाद में उलझना पड़ेगा। अतः उन्होंने कहा—मित्र, मेरे पास तो लोग जिज्ञासाएँ लेकर आते हैं और मैं उनका शक्ति भर समाधान करता हूँ, पर तुम तो जिज्ञासा से नहीं आये हो, क्योंकि तुम्हारे फटे कपड़ों के प्रत्येक छिद्र में से दांभिकता झांक रही है।

वस्तुतः वह व्यक्ति दंभी था और साथ ही साथ अल्पज्ञ भी। अल्पज्ञ व्यक्ति अपने सीमित ज्ञान को लेकर अपने सभी साथियों पर रौब गालिब करने का अवसर ढूँढ़ता रहता है। जहाँ तक ज्ञानार्जन का प्रश्न है, अपनी अल्पज्ञता का आभास और विशेष ज्ञान प्राप्ति का प्रयास एक उचित उपाय है। परंतु कुंठित महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अपने थोड़े से ज्ञान को लेकर ही 'चुहिया को चिंदा मिल गया तो मजाज खाना खोल दिया' वाली कहावत चरितार्थ करने लगते हैं।

नैपोलियन भी महत्त्वाकांक्षी युवक था और उसने अपनी उस तृषा को तृप्त करने, यश-कीर्ति की पताका लहराने के लिए प्रथमतः लेखक बनने का प्रयास किया था। लेखक बनने के लिए उसने

रूसी और ऐल्बे रेनाल की कृतियों का स्वाध्याय किया। फिर लिख डाली आनन फानन में एक पुस्तक—कर्सिका का इतिहास और उस ऐल्बे रेनाल के पास भेज दिया।

पढ़कर रेनाल ने लिखा—'और गहरी खोज कर दुबारा लिखने का प्रयत्न करो।'

बड़ी झुँझलाहट हुई नेपोलियन को। उसने दुबारा एक निबंध लिखा—फिर निराशा, तीसरे प्रयास में भी असफलता और इन तीन विफलताओं ने ही उसे तोड़कर रख दिया। अधीर व्यक्ति मिनटों में आम और घंटों में जाम लगाना और उगाना चाहते हैं। साहित्य क्षेत्र में मिली प्रारंभिक असफलताओं ने नेपोलियन की राह ही बदल दी और वह बन गया युद्धोन्मादी—विश्व विजय का स्वप्नद्रष्टा। द्वंद्व, युद्ध, मारकाट, दमन, विरोधी शासकों का पतन और चीख पुकार ही उसका जीवन मार्ग बन गयी। न तो नैपोलियन अपने विजित प्रदेशों पर सदैव शासन कर सका। वह वीर था, योद्धा था, साहसी था; यह ठीक है। ये गुण अनुकरणीय हैं, परंतु उसकी प्रवृत्ति विध्वंसात्मक थी। इसलिये जितने उसके प्रशंसक हैं, उनसे भी कहीं ज्यादा उसके आलोचक मिलते हैं।

महत्त्वाकांक्षा कोई बुरी चीज नहीं। बुरी है उसकी विपरीत दिशा। इतिहास के कुछ गिने-चुने व्यक्ति ही नहीं, सर्व साधारण में भी बड़प्पन की कुंठित इच्छा पूरी करने के लिए लोग ऊल-जलूल दावतें करते रहते हैं। महत्ता और सम्मान प्राप्त करने के लिए अनपढ़ और गँवार लोग जेवरों, कीमती कपड़ों में अपनी कमाई झोंकते दिखाई देते हैं। धनवान् स्त्रियाँ अपने शरीर पर रौप्य और स्वर्णाभूषण लादे रहती हैं। युवक-युवतियाँ अपने अभिभावकों की कमाई को तरह-तरह की पोशाकें बनाने और फैशन करने में उजाड़ते रहते हैं। आखिर इन सबका क्या अर्थ है और क्या उद्देश्य ? यही न कि हम औरों से अच्छे

लगें। दर्प से न तो उसका कोई हित है और न उसके मित्र और सहयोगी ही उससे प्रभावित होते हैं।

महत्त्वाकांक्षा के कुंठाग्रस्त होने का कारण होता है—सृजनात्मक दृष्टिकोण का अभाव। लगभग आठ-नौ दशाब्दियों पूर्व जर्मनी के एक निर्धन परिवार में एक छोटा सा लड़का था, नाटे कद का और दुर्बल। घर के लोगों से लेकर 'बाहर' के हमजोलियों तक उसे चिढ़ाया करते, उसका मजाक बनाते रहते। यहाँ तक कि उसके माता-पिता तक ने उसे प्रताड़ित किया और उसका बचपन इन कारणों से बड़ा घुटा-घुटा व्यतीत हुआ। वस्तुतः तो वह प्रतिभाशाली और महत्त्वाकांक्षी था। मिलना चाहिए था उसे प्रोत्साहन और मार्गदर्शन जबकि मिली उपेक्षा और प्रताड़ना। फिर भी वह सोचता रहा कि—"मैं बड़ा आदमी बनूँगा, महान् बनूँगा। कोई मुझे छोटा न समझे। दीन हीन और नगण्य न माने। इसके लिए मैं प्रयत्न करूँगा प्रबल प्रयत्न करूँगा।"

और उसने प्रयत्न-साधना के लिये सैनिक क्षेत्र का चुनाव किया। उसके मन में बड़प्पन और विजयकांक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती रही। उचित मार्गदर्शन न मिलने के कारण उसमें सृजनात्मक दृष्टिकोण का अभाव ही रहा, फलतः उसकी दांभिकता भी बढ़ती रही और शक्ति भी। एक दिन यही व्यक्ति जर्मनी का प्रसिद्ध डिक्टेटर और दो-दो विश्व युद्ध का जनक हिटलर बना। उसके पास प्रतिभा थी, शक्ति थी और उनसे उसने सारे विश्व को चमत्कृत भी किया, पर कुंठाग्रस्त विध्वंसात्मक महत्त्वाकांक्षाओं के कारण वह विनाश की ओर ही अग्रसर हुई। वियना की गलियों में सिर पर गंदगी की टोकरियाँ ढोने वाला यह साधारण मजदूर एक दिन बड़ी बुलंदगी के साथ कहने लगा—मेरा जन्म शासन करने के लिए हुआ है। अपनी कुंठाओं का प्रतिशोध पूरा करने के लिए उसने करीब नब्बे हजार निरपराध प्राणियों को यंत्रणा गृह में मौत के घाट

उतार दिया। जब सभी लोग इस दौड़ में शामिल होते हैं तो बड़प्पन की क्या पहचान ?

मृत्यु भोज, ब्याह-शादियों और अन्य पारिवारिक आयोजनों में लोग अनाप-शनाप खर्च कर अपनी शान जताते हैं। इसमें भी कोई शान है ? लाखों रुपये खर्च कर बड़ी धूमधाम से जितना बड़ा आयोजन किया जाए परंतु उनकी स्मृतियाँ चिरस्थायी नहीं रहतीं। लोग थोड़े ही दिनों में उन बातों को भूल जाते हैं। यदि दो-चार दिनों बाद ही उससे इक्कीस आयोजन कहीं हुआ तो उलटे सारी शान मिट्टी में मिल जाती है। न भी हो तो अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च कर अपना बड़प्पन बघारना कोई बुद्धिमानी नहीं है। भला इतनी कीमत पर दो-चार दिन के लिए चर्चित बन गये तो क्या बहादुरी है ? यह बात भी नहीं है कि लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ हों। पर बड़प्पन का व्यामोह और कुंठाग्रस्त अहं किसी भी कीमत पर अपना अस्तित्व मिथ्या आधारों पर स्थापित करने के लिए प्रयत्न करता है।

इस प्रकार के बड़प्पन को हिटलर और मुसोलिनी से किसी भी रूप में कम नहीं कहा जा सकता। फर्क इतना है कि हिटलर और मुसोलिनी को व्यापक क्षेत्र मिला था और ऐसे व्यक्तियों को सीमित क्षेत्र मिलता है। हिटलर, मुसोलिनी ने नरसंहार किया था, तो ऐसे व्यक्ति धन संहार करते हैं। संहार और विध्वंस दोनों ही स्थानों पर हैं, अंतर केवल सामर्थ्य और क्षेत्र का है।

तो महत्त्वाकांक्षा की उचित कसौटी क्या है ? स्पष्ट है—सृजनात्मकता और उपयोगिता। सृजन का अर्थ ही उपयोगिता है। बड़ा ही बनना है तो सत्कार्यों में—पुण्य प्रवृत्तियों में अपनी शक्ति और सामर्थ्य का व्यय करना चाहिए। अर्जन करना है तो भले-बुरे सभी तरीके अपना कर धनवान् बनने की अपेक्षा गुणवान्, परोपकारी और सेवाभावी बनना अधिक सहज है तथा अधिक

लाभदायक भी। इस मार्ग से प्राप्त की गयी प्रशंसा और कीर्ति चिरस्थायी तथा अमर होती है। बुद्ध और महावीर से लेकर गाँधी, नेहरू, लिंकन, वाशिंगटन, लेनिन, पटेल आदि महामानवों ने इसी मार्ग का वरण किया है और प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी को करना भी चाहिए।

दंभ का—विकृत महत्त्वाकांक्षा का दुर्गुण न केवल उसी व्यक्ति के लिए वरन् समाज के लिए भी कितना विघातक सिद्ध हो सकता है। इसके लिए उदाहरण सर्वत्र सब कालों और देशों में देखे जा सकते हैं। मानसिक दुर्बलता का प्रकार चाहे जो हो, भले वह चिंता हो या खिन्नता, सनकीपन हो अथवा दंभ मस्तिष्कीय क्षमताओं को लकवाग्रस्त करने का कारण ही बनाते हैं। इनसे दूर रहा जा सके, इनसे बचा जा सके तो मस्तिष्कीय क्षमता का एक बड़ा अंश नष्ट होने से रोका जा सकता है।

❑ ❑

अपने आप का तिरस्कार न कीजिए

तिरस्कार किसी दूसरे के साथ का व्यवहार न किया जाए गया-गुजरा, अशक्त, अयोग्य और पिछड़े हुए स्तर का हो तो वह निश्चय ही नाराज होगा और ऐसी अभिव्यक्ति को अपना अपमान समझेगा। यह उचित भी है। असत्य सम्मान मानवी अंतःकरण की एक स्वाभाविक वृत्ति है। अपना गौरव और वर्चस्व सिद्ध करने और सम्मान पाने की इच्छा से ही लोग बहुत से सही-ग़लत काम करते हैं। पेट भरने में तो थोड़ा सा समय-श्रम ही पर्याप्त होता है। अधिकतर समय और चिंतन तो बड़प्पन पाने के साधन संग्रह करने और इस तरह का ठाट-बाट रोपने में ही खर्च होता रहता है। पेट की भूख और यौन लिप्सा के बाद सबसे प्रबल आकांक्षा बड़प्पन पाने की है। कई बार तो वह इतनी उग्र होती है कि आदमी उसके लिए भयंकर खतरे उठाने को भी तैयार हो जाता है।

इतने पर भी कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने आप अपना तिरस्कार स्वयं करते रहते हैं और उसके अभ्यस्त बन जाते हैं। दब्बूपन उनका स्वभाव बन जाता है। सही, खरी, उचित और सामान्य बात भी किसी के सामने नहीं कह पाते। मुँह खोलने में उन्हें बहुत डर लगता है और यह भय बसा रहता है कि वह न जाने क्या समझ बैठे, रुष्ट न हो जाए, झिड़क न दे। वस्तुतः यदि वैसा भी हो जाए तो भी उससे कोई बड़ी हानि नहीं हो सकती, किंतु दब्बू आदमी अपनी बड़ी से बड़ी हानि करके भी इतना साहस नहीं जुटा पाता कि सीधी सी बात को सरल स्वाभाविक रीति से दूसरे के सामने रखकर अपना मत व्यक्त कर दें और गलत फहमी के जो कारण-अकारण, मतिभ्रम, घुटन अथवा खाई उत्पन्न कर रहे हैं, उनका निराकरण कर दे। साहस की कमी ऐसे व्यक्तियों को दयनीय स्थिति में डाले रहती है।

बचपन में प्रेम और सम्मान का न मिलना, उपेक्षा उपहास तथा अभावग्रस्त स्थिति में समय गुजारते रहने वाले बच्चे बड़े होने पर प्रायः आत्महीनता के शिकार बन जाते हैं। बीमार, अपंग, मंदबुद्धि बच्चे भी बार-बार डाँट-डपट सुनते रहते हैं। फलतः उनका मन यह मान बैठता है कि उनकी स्थिति दूसरों की अपेक्षा है ही गई गुजरी। उनका भाग्य कुछ ऐसा ही बना है। पिछड़ी समझी जाने वाली जातियों के लोग तथा महिलाएँ आरंभ में ही घटिया समझी जाने की—उपेक्षित स्थिति में रहने के कारण. अपने आप को हेय स्थिति का स्वयं भी मान बैठती हैं और उसी स्तर का अपने को समझते हुए सोचने का ढंग ऐसा बना लेते हैं, मानो वे बने ही घटिया मिट्टी से हैं। इस मान्यता के कारण दब्बूपन उनकी प्रत्येक क्रिया से टपकता रहता है। दूसरों के सामने वे अपने आपको ठीक तरह व्यक्त नहीं कर सकते, यहाँ तक कि खुले मन से हँस-बोल भी नहीं सकते।

कुछ लोग किसी बाहरी दबाव या अभाव से नहीं, अपनी दब्बू प्रकृति के कारण ही अपने को हेय स्थिति में डाल लेते हैं। वे दूसरों के बड़प्पन और अपने हेय होने की बात को अकारण ही बढ़ा-चढ़ा कर मान बैठते हैं और बहुत ऊँची-नीची खाई खोद लेते हैं।

हीनताग्रस्त व्यक्ति को सहज ही पहचाना जा सकता है, वह आलसी, असंतुष्ट, दब्बू, चापलूस तथा बात-बात पर रूठने वाला होगा। जरूरत से ज्यादा नम्रता प्रदर्शित करता है। उससे कोई भी बेगार ले सकता है, उधार माँग सकता है, ठग सकता है। मन में वैसा न करने की बात रहते हुए भी इतनी इनकार करने की हिम्मत नहीं, तो सामने वाले का आग्रह टालते नहीं बनता। ऐसे व्यक्ति किसी मिलन गोष्ठी में एक कोने में सहमे-सकुचे बैठे होंगे, ताकि कोई उनसे कुछ पूछ न बैठे; कुशल प्रश्नों का उत्तर देना तक उन्हें भारी पड़ता है। ऐसे लोग आये दिन ठगे जाते हैं, उनसे कोई भी बेगार लेता है और काठ का उल्लू समझता है। लाभ उठाने वाले कुछ अहसान भी नहीं मानते, क्योंकि वे

समझते हैं कि जो पाया-कमाया है वह दब्बू आदमी की दुर्बलता का चतुरतापूर्वक लाभ उठा लेना भर था, इसमें ठगे जाने वाले की कोई उदारता थोड़े ही थी।

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त २२ मनोविज्ञानवेत्ताओं के एक आयोग को चिंता के कारणों का पता लगाने का काम सौंपा था। उस दल ने इस मर्ज के हजारों मरीजों की कुरेदबीन करने पर यह पाया कि ऐसे लोग वस्तुतः पहले सिरे के डरपोक होते हैं। भूत और साँप का न सही, भविष्य की आशंकाओं का डर उन्हें निरंतर सताता रहता है। इसके अतिरिक्त वे अपनी वर्तमान स्थिति को अपर्याप्त-असंतोषजनक समझते रहते हैं। यों निर्वाह में कठिनाई उत्पन्न करने वाला अभाव इनमें से किसी बिरले को ही होता है, आयोग ने यह भी बताया है कि भय एक संक्रामक रोग है, वह छूत की बीमारी की तरह साथ रहने वाले पर भी असर करता है। छोटा बालक जो अभी संसार की परिस्थितियों के बारे में कुछ भी नहीं समझता, माता को डरी हुई देखकर स्वयं भी रोने लगता है। उसे डरे हुए की दयनीय स्थिति को देखकर स्वयं डर लगता है।

कंधा झुकाये हुए, जमीन में आँखें गाड़े हुए कुछ लोग डरे सहमे लोगों की आँखों से अपने को बचाते हुए सड़क पर चलते दिखाई पड़ेंगे, उनके पैर डगमगाने से लगेंगे। सीधी लाइन चलना उनसे बन नहीं पड़ेगा। साँप की तरह टेढ़े-तिरछे चलेंगे, पैर एक-दूसरे में लिपटते से दिखाई पड़ेंगे। इसके विपरीत कुछ लोग सीना ताने फौजियों जैसे कदम मिलाकर सीधी लाइन चल रहे होंगे। चेहरे पर विश्वास भरी मुस्कान दीख रही होगी और आँखों से चमक निकलती दिखाई पड़ेगी। यह अंतर शरीर की स्थिति से नहीं मानसिक स्तर से संबंध रखता है। जिन पर आत्महीनता सवार है वे न केवल सड़क पर चलते हुए वरन् हर कार्य में अपनी दयनीय दुर्बलता व्यक्त कर रहे होंगे। जबकि आत्म विश्वासी व्यक्ति की

तेजस्विता उनके हर क्रियाकलाप से हर भाव भंगिमा से टपक रही होगी।

अत्यधिक हीनता ग्रस्त व्यक्ति उसके भार से दब जाता है, हिम्मत खो बैठता है और उज्ज्वल भविष्य की आशा छोड़कर हताश रहने लगता है। अपनी क्षमता पर अविश्वास करने वाला एक प्रकार से हाथ-पाँव रहते हुए अपंग और बुद्धि रहते हुए भी संशय ग्रस्त रहता है। वह करने की तो बहुत कुछ सोचता है, पर साहस के अभाव में कुछ कर नहीं पाता। करता है तो फल पकने तक किसी वृक्ष को सींचते रहने के लिए जितने धैर्य की आवश्यकता पड़ती है, उतनी जुटा नहीं पाता। अस्तु अधिकांश कार्यों में असफल रहता है और हर असफलता उसे और भी अधिक निरुत्साहित करती चली जाती है।

दब्बूपन के अतिरिक्त विकृत आत्महीनता उद्धत बनकर उभरती है। वह ऐसे कृत्य करने को उकसाती है, जिससे लोग उसे भी असाधारण समझें। विधिवत् असाधारण बनने के लिए तो मनुष्य को व्यक्ति का समग्र निर्माण करना पड़ता है और आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने का उदात्त साहस जुटाना पड़ता है। पर उद्धत काम करने के लिए उच्छृंखलता अपनाने और आतंकवादी रास्ते पकड़ने से काम चल जाता है। यों आरंभ में होता तो यह भी कठिन है, पर उसी स्तर के आवारा लोगों का साथ ढूँढ़ लेने में वह अभ्यास जल्दी ही हो जाता है और गुण्डागर्दी से दूसरों को आतंकित करने की सफलता पाकर आत्मगौरव की भूख बुझा ली जाती है। साथ ही आर्थिक तथा दूसरे लाभ भी कमा लिये जाते हैं। सस्ती तरकीब से दुहरा लाभ पाने से उत्साहित होकर वे इस प्रकार की गतिविधियाँ एक पेशे के रूप में अपना लेते हैं। अपराधों में संलग्न उच्छृंखल गुण्डागर्दी अपनाने वाले व्यक्ति बहुत करके आत्महीनता की ग्रंथि से ग्रसित ही होते हैं। निजी जीवन में थोड़ी सी भी विपत्ति आने पर उन्हें बेतरह रोते-कलपते पाया जाता है।

अधिक बन ठनकर रहने वाले और साज श्रृंगार करने वाले नर-नारियों में अधिकांश ऐसे होते हैं, जो अपने आपको तिरस्कृत, उपेक्षित एवं हेय स्तर का मानते हैं। वे श्रृंगार साधनों को अपना कर तड़क भड़क के कपड़े और चमचम करते जेवर पहन कर दूसरों से अधिक आकर्षक बनने का प्रयत्न करते हैं, ताकि लोग उन्हें असाधारण समझें। अमीरी का ढोंग रचते हुए, पैसे का अपव्यय करते हुए कई व्यक्ति अपने परिचितों पर छाप छोड़ना चाहते हैं कि वे बड़े आदमी हैं और बड़े आदमियों की तरह चाहे जितना पैसा फूँक सकने में समर्थ हैं। ऐसे आदमी कम कीमत की मजबूत चीजें खरीदने की अपेक्षा महँगी और कमजोर चीजें खरीदते हैं, इस खरीद में उनका प्रयोजन दूसरों पर अपनी रुचि एवं कलाकारिता की छाप छोड़कर बड़प्पन का आतंक जमाना भर होता है। ऐसे लोग सदा ऋणी बने रहते हैं और आर्थिक तंगी भुगतते हैं। लाभ इतना ही होता है कि उनकी आत्महीनता को कुछ समय के लिए राहत मिल जाती है।

अमेरिका में १० हजार पीछे एक व्यक्ति हर साल आत्महत्या करके मरता है। किसी-किसी वर्ष तो यह अनुपात बहुत अधिक बढ़ जाता है। एक साल तो यह संख्या १५,८०० पहुँच गई थी। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक संख्या में आत्महत्या करती हैं।

लोग क्यों आत्मघात करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में दरिद्रता, बेकारी, शारीरिक कष्ट, पारिवारिक कलह, असफल प्रेम, अपमान, निराशा, विपत्ति की आशंका आदि कई कारण गिनाये जा सकते हैं। पर सबसे बड़ा कारण होता है—मानसिक असंतुलन, जिसके कारण लोग छोटी-छोटी कठिनाइयों या असफलताओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर मान लेते हैं और उस भयंकरता से बचाव का कोई उपाय न सूझने पर किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ व्यक्ति अपने ऊपर ही आक्रमण कर बैठता है और दूसरों को मार डालने का साहस न जुटा सकने पर अपने आप का ही वध कर डालता है।

आत्महत्या की बढ़ती हुई घटनाओं का कारण मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अपने आपके प्रति अविश्वास, दुर्बलता और हीनता की भावनाओं की जड़ें जम जाना है। यह स्थिति किसी भी व्यक्ति को हानि और हेय बना सकते हैं।

➢ हीन-हेय-दयनीय न बनें

अपने आपको दूसरों से हेय या हीन मानने की मानसिक ग्रंथि किसी सुयोग्य व्यक्ति को भी दयनीय पिछड़ेपन में जकड़े रहती है। वह अपनी योग्यता पर विश्वास नहीं करता। दूसरों को अपने से किसी न किसी बात में अधिक समर्थ देखता है और उसकी तुलना में अपने को गया—गुजरा समझ लेता है। झेंप इसी का नाम है। अनेकों दब्बू, झेंपू, संकोची कहलाने वाले व्यक्ति कभी-कभी अपनी दुर्बलता को नम्रता, विनयशीलता, सज्जनता आदि के लबादे से ढक कर छिपाने का उपहासास्पद प्रयत्न भी करते देखे गये हैं। पर बात छिपती नहीं है। नम्र या सज्जन को दूसरों के सम्मान की रक्षा करते हुए अपने मन की बात मधुर शब्दों में रखते हुए तनिक भी कठिनाई अनुभव नहीं होती, जबकि आत्म हीनता से ग्रसित व्यक्ति से कुछ कहते ही नहीं बनता—उससे उचित के प्रतिपादन और अनुचित से असहमत होने की बात कहते ही नहीं बनती। भीतर ही भीतर घुटता रहता है। बहुत साहस करने पर भी आधी अधूरी, लँगड़ी-लड़खड़ाती बातें ही मुँह से निकलती हैं। उसमें अस्पष्टता रहने के कारण दूसरे लोग उसका असली मंतव्य नहीं समझ पाते और कुछ का कुछ अर्थ लगाकर उसी कथन को उलटे प्रहार का हथियार बनाते हैं। ऐसी दशा में वह डरकर इस नतीजे पर पहुँचता है कि कहने की अपेक्षा न कहना अधिक उपयुक्त है।

आत्महीनता मनुष्य की सारी बुद्धिमत्ता, योग्यता एवं प्रतिभा पर पानी फेर देती है। अपने को व्यक्त न कर सकने के कारण वह दूसरों की दृष्टि में असमर्थ एवं मूर्ख सिद्ध होता है। जब उसकी

क्षमता पर किसी को विश्वास ही नहीं तो फिर उसे कुछ उत्तरदायित्व सौंपने का बढ़ावा देने के लिए कोई क्यों तैयार होगा ? उपेक्षा और अवमानना ही उसे मिलती है। इस व्यवहार से उसकी हीनता की ग्रंथि और भी अधिक कसती-जकड़ती चली जाती है। अंततः वह आत्ममान्यता की परिपक्वता से सचमुच ही बुद्धू एवं अयोग्य बन जाता है, जबकि वस्तुतः उसमें किसी से कम प्रतिभा थी नहीं।

आत्महीनता की घुटन अपने लिये दूसरा रास्ता निकालती है—दूसरों पर दुर्भावना आरोपण करने का। दूसरे उससे द्वेष रखते हैं—उसके साथ अन्याय, पक्षपात करते हैं। यह मान्यता जड़ जमाती है और जिनसे भी उसका वास्ता पड़ता है, उन सबको अपने विद्वेषियों की श्रेणी में गिन लेता है। दूसरे विद्वेष क्यों करते हैं ? इसका कारण ढूँढ़ने में किसी की बुद्धि को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इसके लिए पिछले किसी भी सामान्य व्यवहार पर दुर्भावनापूर्ण आवरण चढ़ाकर इस तरह व्याख्या की जा सकती है, मानो सामने वाले सचमुच ही विद्वेषी हैं। किसी भी निर्दोष व्यक्ति या सहज-स्वाभाविक घटना को आशंका और संदेहों के रंग में रंग कर अपने इच्छित स्तर का देखा जा सकता है। मित्र या शत्रु के रूप में किसी भी उदासीन व्यक्ति को हम देख सकते हैं और वह सचमुच वैसा ही प्रतीत होगा। उसमें सामान्य वार्तालाप एवं क्रियाकलाप की दुर्भावनापूर्ण व्याख्या करना अति सरल है। यों किसी के प्रति अंधप्रेम हो तो उसे सर्वगुणसंपन्न और अत्यंत स्नेहसिक्त मान बैठना भी कठिन नहीं है, पर ऐसा कम ही होता है। आत्महीनता की ग्रंथि प्रायः द्वेष-दुर्भावों का ही आरोपण अधिक लोगों पर करती है। कुचले हुए स्नेह-सद्भावों को कभी किसी से थोड़ा आश्रय मिल जाय तो ऐसे व्यक्ति उस पर लट्टू भी हो जाते हैं और उस प्रेमावेश में अपना सब कुछ लुटा देने में भी नहीं चूकते। यह दोनों ही पक्ष हानिकारक हैं। इसमें अकारण शत्रुता-मित्रता का आरोपण

होता है और संतुलित व्यवहार से परस्पर सहयोग का जो सही क्रम बन सकता था उसका स्वरूप ही नहीं बन पाता।

आत्महीनता का कभी-कभी उद्धत आचरण के रूप में विस्फोट होता है। उपेक्षा-अवज्ञा सहते-सहते जब अंतःचेतना ऊब जाती है तो ऐसे छद्मवेष बनाकर प्रकट होती है जिसके कारण लोगों का ध्यान आकर्षित हो, सहानुभूति मिले, अथवा वे आतंक ग्रस्त होकर उसके महत्त्व को समझें। तोड़-फोड़, आक्रोश करना, रोना, अनशन जैसे विचित्र व्यवहार नगण्य के कारणों के बहाने प्रस्तुत करते हैं। कभी अति परिश्रम करते या अत्यंत सद्भावना प्रकट करते हुए भी उन्हें देखा जा सकता है। भूत-प्रेत ऐसे ही लोगों को आते हैं। तरह-तरह के सपने सुनाने और दिव्य अनुभूतियाँ सुनाने में भी यही वर्ग अग्रणी रहता है। श्रृंगार और फैशन बताना अथवा अत्यंत अस्त-व्यस्त रहना यह दोनों ही हीनता की निशानियाँ हैं। दोनों ही स्थितियों में दूसरों की चर्चा करने का अवसर मिलता है। बात भली कही या बुरी—प्रशंसा हुई या निंदा—मान बढ़ा या घटा—हानि उठानी पड़ी या लाभ—इन सबसे उतना वास्ता नहीं होता जितना कि अपनी चर्चा सुनकर अहं को थोड़ी राहत मिलने से संतोष होता है। दान-पुण्य, तीर्थ-यात्रा, व्रत-मौन जैसे धर्म कृत्य भी ऐसे ही लोग अधिक करते हैं। धर्मात्मा के रूप में आत्म विज्ञापन करके दूसरों से प्रशंसा अर्जित करने का भाव इन लोगों में अत्यधिक उग्र होता है। वास्तविक धर्मबुद्धि से विवेकपूर्वक सत्प्रयोजन के लिए सत्पात्रों को दान देते कोई विरले ही देखे जाते हैं। अधिकतर तो पैसा कुपात्रों में ही लुटता है और वह भी वहाँ-जहाँ लोगों में उस पुण्य की चर्चा होने का अवसर मिले। आत्मविज्ञप्ति द्वारा थोड़ा संतोष पाने का भी यह तरीका किसी कदर अच्छा इसलिए है कि उसमें सदुद्देश्य की बात तो आगे रहती है, पीछे दूरवर्ती परिणाम उसका कुछ भी होता रहे।

दूसरों के अनुचित व्यवहार ऐसे ही लोगों के साथ अधिक होते हैं। संकोची स्वभाव के कारण कहना, करना सब कुछ डरते-डरते होता है। उसकी गति धीमी होती है। क्रिया का परिणाम कम और समय अधिक लगता है। आशंकामय एवं असमंजस की स्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। ऐसे लोगों के काम देर में, थोड़े तो होते ही हैं। जो होते हैं, वे भी आधे अधूरे लँगड़े-कुबड़े होते हैं। अस्तु उपहास होता है—डाँट पड़ती हैं और खीज में अप्रिय व्यवहार भी होता रहता है। उसमें शाब्दिक अथवा दूसरी तरह की प्रताड़ना स्पष्ट भरी रहती है। इसकी प्रतिक्रिया रोष के रूप में होनी स्वाभाविक है, पर उसके प्रतिकार में कुछ करते भी नहीं बनता। घुटन दूनी बढ़ती है। यह रोष कभी-कभी विस्फोट बनकर भी फूटता है। कई स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चों को बेतरह पीटती देखी जाती हैं, इसे आत्महीनताजन्य घुटन का विस्फोट ही कहा जा सकता है।

कुरूपता, दरिद्रता, मंदबुद्धि, जाति-पाँति, कोई शारीरिक कमी, प्रताड़ना, किसी अपराध में पकड़े जाना आदि कारणों से दूसरों की दृष्टि में उपहासास्पद होने की कल्पना करके कितने ही व्यक्ति आत्महीनता के शिकार हो जाते हैं। दूसरे लोग जब उपहास या अवमानना करते हैं तो उनकी अंतःचेतना अपने को हेय या हीन मानती चली है और निरंतर की मान्यता धीरे-धीरे परिपक्व होकर व्यक्तित्व को सचमुच उसी स्तर का बना देती है। ऐसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं—ऐसे विचार एवं कर्म छलने लगते हैं, जो हेय स्तर के लोगों के होते हैं। लड़कियों को आरंभ से ही लड़कों की तुलना में हेय—पराये घर का कूड़ा-आजीवन बंधनग्रस्त रहने की बात मन में बिठाई जाती रहती है, अस्तु वे अपनी सहज स्थिति वैसी ही स्वीकार कर लेती हैं। वस्तुतः लड़के और लड़की की संरचना में कोई विशेष अंतर नहीं है, पर एक का उभरा हुआ और दूसरे का दबा हुआ व्यक्तित्व उन परिस्थितियों का परिणाम है, जिसने

लड़की को आत्महीनता की ग्रंथि में जकड़ कर मजबूती के साथ बाँध दिया है।

अपने आपको पापी, अभिशप्त, दुर्भाग्यग्रस्त, ग्रहदशा पीड़ित मान लेने से भी व्यक्तित्व दब जाता है। दूसरों की जो उपलब्धि है—वह हमें नहीं मिला, दूसरों की तुलना में हमारे सामने कठिनाइयाँ अधिक हैं। अपना भविष्य अमुक कारणों से अंधकारमय है, ऐसा सोचते रहने वाले एक प्रकार से अपना गौरव, पौरुष और साहस खो बैठते हैं। भीतर से टूटे और हारे हुए मनुष्य भविष्य निर्माण की दिशा में कुछ सोच भी नहीं पाते—कर तो पायेंगे ही कैसे ? हिन्दू विधवाओं को आमतौर से इसी वर्ग में गिना जा सकता है।

अपने से ऊँची स्थिति के लोगों के साथ अपनी तुलना करते रहने से सहज ही अपने दुर्भाग्य पर दुःख होता है। कदाचित् यह तुलना अपने से छोटे लोगों के साथ की गई होती तो वर्तमान स्थिति को भी सौभाग्यशाली गिना जा सकता था। बड़ों की तुलना तक पहुँचने के लिए पुरुषार्थ जगता तो भी एक बात थी, पर यदि उससे अपने को दुर्भाग्यग्रस्त मान लिया गया है तब तो उस चिंतन से अहित ही अहित है। उत्साह और विनोद की परिस्थितियाँ न मिलने पर—मित्रता, सहानुभूति, प्रशंसा और प्रोत्साहन न मिलने पर भी मन उदास होता है और थकान अनुभव करता चला जाता है। नीरस जिंदगी, कोल्हू के बैल की तरह चलने वाला ढर्रा, मनुष्य के विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को कुचल कर रख देता है। ऐसे मनुष्य रोते-चीखते मौत के दिन पूरे करते रहते हैं, न उनमें आनंद होता न उल्लास। भविष्य की अच्छी आशाएँ गँवा कर फिर हाथ में रहता ही क्या है ?

वियाना के मनोविज्ञानी डॉ० एल्फर्ड एडलर ने उदास और हतप्रभ लोगों के विश्लेषण में अधिकतर ऐसे लोग पाये जो स्वार्थरत रहते रहे और आत्मचिंतन के निषेधात्मक पक्ष में ही उलझे रहे।

अपने आपको स्वस्थ, सुसंपन्न, विद्वान् आदि बनने की बात सोचते रहने, स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि आदि की व्यक्तिगत लालसाओं में संलग्न व्यक्ति उस सहज आनंद से वंचित रह जाते हैं, जो सामाजिक जीवन बिताने वाले एवं सामूहिक चिंतन करने वाले लोगों को मिलता है। दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार होना, उनकी कठिनाइयों को समझना एवं सहायता करना ऐसा गुण है जिसके कारण व्यक्ति लोकप्रिय बनता है। स्नेह, सम्मान एवं श्रद्धा-सौजन्य अर्जित करने वाला व्यक्ति-वैभव संपादित करने में संलग्न, संकीर्ण स्वार्थपरायण व्यक्तियों की तुलना में कहीं अधिक प्रसन्न रहता है। उसका मनोबल अनायास ही बढ़ता जाता है।

अदक्ष होना कोई प्रकृति प्रदत्त अभिशाप या अभाव नहीं है। हर मनुष्य का मस्तिष्क लगभग एक जैसे कणों, कोषों एवं तंतुओं से बना है। मानवी मस्तिष्कों की संरचना में उतना अंतर नहीं होता जितना कि बौद्धिक दृष्टि से उनमें दिखाई पड़ता है।

इस अंतर का प्रधान कारण मस्तिष्कीय शक्तियों को अभीष्ट विचारों एवं निर्धारित कामों पर पूरी तरह केंद्रित करने में शिथिलता बरतना ही कहा जा सकता है। लोग काम तो करते हैं, पर वह कोल्हू के बैल की तरह—जेल खाने के कैदी की तरह अथवा मशीनी ढर्रे जैसा होता है। उसमें गहरी दिलचस्पी नहीं ली जाती, यदि ली गयी होती तो उत्साह उत्पन्न होता, रस आता और तन्मय-तत्परता बरती गई होती। फलतः वही कार्य जो घटिया स्तर का बनकर रह गया—किसी कुशल कलाकार की कारीगरी बनकर सामने आता। हर काम यह घोषणा करता है कि उसे किस दिलचस्पी एवं तत्परता के साथ किया गया है। बारीकी से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्ता ने उसे बेगार की तरह टाला है—या प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर पूरी सावधानी के साथ संपन्न किया है।

हमारे विचार छितराये रहते हैं। कोई बात सोचने की जब आवश्यकता हो तो बहुत थोड़ी देर—समस्या के एक अंग पर आधे अधूरे मन से ध्यान देते हैं। इतने में ही मन अपनी सहज संरचना के आधार पर बहुमुखी दिशा में उड़ने लग जाता है। यदि पूरी दिलचस्पी के साथ प्रस्तुत समस्या पर विचार करने की आदत होती तो उसके प्रत्येक पहलू पर सोच विचार किया जाता। पक्ष और विपक्ष के तर्क एवं तथ्य सामने लाये जाते और गुण-अवगुण की दृष्टि से पूरा मंथन किया जाता। कई तरह के विकल्पों को सोचा जाता। आगत कठिनाईयाँ एवं उनके समाधानों को समझा गया होता और कई दृष्टियों से गहराई तक वस्तु स्थिति में जाने का प्रयत्न किया गया होता। इतना मंथन करने के बाद जो निष्कर्ष निकलता, निर्णय किया जाता, निश्चय ही वह बहुत महत्त्वपूर्ण होता और उस आधार पर कदम उठाना असफलता एवं पश्चात्ताप का कारण न बनता।

आधी अधूरी बात सोचना, एक पक्ष को ही समग्र मान लेना, विकल्पों और व्यवधानों को समझना इसलिए संभव नहीं होता कि विचारों की एकाग्रता, समग्रता और गहराई अभ्यास में नहीं होती। सर्वांगपूर्ण कार्य की तरह समग्र चिंतन भी आवश्यक है। इसके लिए मानसिक आलस्य को हटाकर वैज्ञानिकों जैसी गहराई में उतरने की आदत को अभ्यास में सम्मिलित करना होगा। शरीर के आलस्य से काम खराब होते हैं। मन का आलस्य प्रमाद कहलाता है। बात को गंभीरता से पूरी तरह न सोचना, अधूरे चिंतन को ही पर्याप्त मान लेना, फूहड़ और अधूरे काम करने की अस्तव्यस्तता जैसी ही बुराई है।

प्रवीणता प्रकृति प्रदत्त गुण नहीं है, वह अभ्यास की उपलब्धि है। तन्मयतापूर्वक काम करने वालों के हाथ कुशल कलाकार जैसे प्रवीण होते जाते हैं और उनका स्तर सदा सराहा जाता है। ठीक इसी प्रकार किसी विचार पर पूरी सावधानी के साथ ध्यान केंद्रित करना और उसके हर पक्ष पर सतर्कतापूर्वक विचार करना

तात्कालिक समस्या का तो सही समाधान निकालना ही है। साथ ही एक बड़ा लाभ यह प्रस्तुत करता है कि समग्र चिंतन की आदत उसे बुद्धिमान् बनाती चली जाती है। कुशाग्र बुद्धि, सूक्ष्म दृष्टि, वस्तुतः समग्र एवं सर्वतोमुखी चिंतन की आदत की परिपक्वावस्था ही है। पूरा चिंतन करने के अभ्यास को ही दूसरे शब्दों में दूरदर्शिता, प्रतिभा, संपन्नता, कुशाग्र बुद्धि आदि नामों से पुकारा जा सकता है। पूरा काम और पूरा विचार करना उस सतर्कता का परिणाम है। जो गहरी दिलचस्पी होने पर ही विकसित होती है। जिसे अपने कामों को पूरा मनोयोग लगाकर करने की आदत है, उसकी प्रगति और सफलता असंदिग्ध बन कर ही रहेगी।

आत्महीनता की ग्रंथि से ग्रसित व्यक्ति अपने पर, अपनी योग्यताओं पर विश्वास करना छोड़ देता है। वह किसी कार्य को पूरा कर सकेगा, इस पर विश्वास नहीं कर पाता। आत्मविश्वास का अभाव सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। अपने आप को हेय एवं तुच्छ मानना प्रकारांतर से अपने भविष्य को अंधकारमय बना लेने का स्वनिर्मित प्रयत्न ही कहा जा सकता है।

➢ व्यक्तित्व को इस प्रकार सींचें

आत्महीनता से बचने के लिए स्वयं को प्रोत्साहन देते रहना इस मनोव्याधि की अचूक औषधि है। पौधे को खाद पानी से सींचा जाता है और व्यक्तित्व को—प्रोत्साहन से। आत्मगौरव का अनुभव किया जाना चाहिए और कराया जाना चाहिए। गलतियाँ बताना और सुधारना एक बात है और व्यक्तित्व हेय तथा हीन सिद्ध करना दूसरी। प्रायः लोग एक बड़ी भूल करते हैं कि गलती की भर्त्सना करते हुए, निराकरण की उपेक्षा रखते हुए ऐसे कदम उठाते हैं जिन्हें आक्रमण की संज्ञा दी जा सकती है। बच्चों के साथ बड़े कहे जाने वाले—अभिभावक लोग भी प्रायः ऐसी ही भूल जाने अनजाने करते रहते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व को भारी आघात पहुँचता है।

किसी गलती की मूर्खता कहा जा सकता है और उसे सुधारने पर बुद्धिमान् कहलाने का रास्ता बनाया जा सकता है, किंतु किसी को मूर्ख, मंदबुद्धि, असभ्य, बेशऊर आदि कहते रहने से अनायास ही बड़ों के उस निर्देश-अनुदान को अंतःचेतना स्वीकार करती चली जाती है और क्रमशः हीनता के परत इतने मजबूत हो जाते हैं कि बच्चा सचमुच ही मंद बुद्धि, बेशऊर और मूर्ख बन जाता है। व्यक्तित्व की धुरी आत्म मान्यता है। यदि अपने आपको अयोग्य, अभागा, अविकसित और पिछड़ा हुआ मान लिया जाए तो फिर समझना चाहिए कि उस मान्यता के इर्द गिर्द ही जीवन-चक्र घूमता रहेगा। दुर्भाग्यग्रस्तता की स्थिति से मरण पर्यंत पीछा न छूट सकेगा।

लड़कियों और लड़कों की प्रतिभा में अंतर किसी शारीरिक अथवा मानसिक बनावट के कारण नहीं, वरन् उनके साथ होने वाले भेद-भाव पूर्ण व्यवहार के कारण होता है। बेटे को अधिक लाड़-प्यार और अधिक सुविधा-साधन मिलते हैं और बेटी को डाँट-डपट, उपेक्षा, अवज्ञा मिलने से लड़की का अंतःकरण यह स्वीकार करता चला जाता है कि वस्तुतः वह हेय और हीन है। इस हेय मान्यता के कारण वह आजीवन डरी, सहमी, सकुची और पिछड़ी स्थिति में रहती है। यह कुसंस्कार बहुत प्रयत्न करने पर भी निकलते नहीं—अधिक प्रयत्न किया जाए तो वे उद्धत प्रदर्शन या उच्छृंखल व्यवहार में फूट पड़ते हैं। महिलाओं का अधिक फैशन बनाना, सजधज दिखाना, उनकी आत्महीनता का उद्धत प्रदर्शन है। कभी-कभी वे अधिक झगड़ालू, बच्चों को पीटने वाली, रूठने वाली, आत्महत्या की धमकी देती देखी जाती हैं। उनके इस चण्डी रूप से उनका उच्छृंखल व्यवहार ही दिखता है। वस्तुतः यह आत्महीनता का ही दूसरा रूप है। अत्यधिक संकोची, बात-बात में रो पड़ने वाली—न हो तो पग-पग पर उफनने वाली सही, दो परस्पर विरोधी दिशाओं में एक ही प्रवाह फूट पड़ता है।

लड़कों के बारे में भी यही बात है। उन्हें आवश्यक लाड़-प्यार देकर या तो अहम्मन्यता ग्रसित बना दिया जाता है या फिर मूर्ख—दुष्ट, अभागा, चोर आलसी कहकर उसके अंतः में यह विश्वास जमा दिया जाता है कि वह हेय स्तर का है, सामान्य मनुष्य जैसा नहीं वरन् उससे गया गुजरा है। प्रभावशाली, बड़े कहलाने वाले लोग अपनी छाप छोटों पर छोड़ते ही रहते हैं। बालक अपनी हीनता स्वीकार करता चला जाता है और बड़े होने पर या तो कायर, आलसी, चोर, मंद-बुद्धि रह जाता है या फिर दुष्ट-दुर्गुणी बनकर उद्धत काम करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

प्रतिभा के विकास में मनुष्य को स्वाभिमानी, आत्मावलंबी तथा आत्मविश्वासी होना चाहिए और किसी के भी द्वारा थोपे गये आत्महीनता के निर्देशों को अस्वीकार कर देना चाहिए। गलती ढूँढ़ने, पूछने और सुधारने का प्रयत्न जारी रहना चाहिए। वस्तुतः अधिक योग्य बनने का रचनात्मक प्रयास और उत्कर्ष का क्रमिक विकास तो महान् से महान् व्यक्तियों को भी इसी प्रकार अपनाना पड़ा है। प्रगति का अर्थ ही गलती सुधारने में तीव्रता उत्पन्न होना है। यह क्रम पूछने-बताने से और भी अधिक सही होता है, पर वह रचनात्मक होना चाहिए। मनुष्य का, मनुष्यता का मूल्य समझने वाले प्रत्येक विवेकवान् व्यक्ति का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि किसी के व्यक्तित्व पर आक्रमण न करे। बड़ा साँड़ छोटे बछड़े के पेट में सींग घुसेड़ सकता है, बड़ा कुत्ता छोटे कुत्ते की गर्दन दाँतों से फफेड़ सकता है, पर ऐसा व्यवहार मनुष्य को मनुष्य के साथ तो नहीं करना चाहिए। व्यक्तित्व को छोटा, घटिया, गया बीता बताना, उसके भविष्य को अंधकारमय बताना उतना बुरा है—जिसे उसके साथ किये गये किसी भी दुर्व्यवहार के समतुल्य माना जा सकता है। बलवान् दुर्बल को पछाड़ कर उसका कचूमर निकाल सकते हैं, इसी प्रकार प्रभावशाली, शक्तिसंपन्न व्यक्ति छोटे लोगों को हेय,

हीन ठहरा कर उसके मनोबल को तोड़ सकते हैं। यह बुद्धि एवं प्रतिभा का आक्रमणात्मक दुरुपयोग है।

हमें रचनात्मक सुझाव देने चाहिए। यह काम बुरा हुआ— इसकी उतनी अधिक व्याख्या करने की जरूरत नहीं है—जितनी कि सुधार के लिए जो किया जा सकता है, उसका सुझाव देने की। सुझाव रचनात्मक होते हैं। उनसे दिशा मिलती है और लाभ होता है, किंतु भर्त्सना से मन छोटा होता है। तिरस्कार के फलस्वरूप द्वेष-दुर्भाव की खाई चौड़ी होने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। गलती से होने वाली हानि और सुधार का तरीका अपनाने का लाभ तुलनात्मक रीति से समझाया जा सकता है।

दूसरे के दबाव से, परिस्थितियों से, अपनी आत्म अवज्ञा से आत्महीनता की मनोवैज्ञानिक ग्रंथि बनती है और उसके कारण व्यक्तित्व बहुत ही दीन और दुर्बल बन जाता है। ऐसे व्यक्ति दब्बू, संकोची, चापलूस, हाँ में हाँ मिलाने वाले, असहमति को प्रकट न कर सकने वाले, भीतर ही भीतर खीझे-रूठे रहने वाले होते हैं। उनसे कोई बेगार ले सकता है, ठग सकता है। साहस के अभाव में वे यह तक प्रकट नहीं कर सकते कि उनसे जो कुछ कराया जा रहा है, जो वे कर रहे हैं उसमें उनकी स्वेच्छा नहीं है।

मनोविज्ञानी जे० सी० राबर्ट्स ने अपनी "दैनिक जीवन में मनोविज्ञान" नामक पुस्तक में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि हर मनुष्य को अपने भीतर से साहस का उदय करना चाहिए। अपने आप को सबसे बड़ा न सही—कम से कम सबसे अयोग्य मानना तो बंद कर ही देना चाहिए। परमात्मा ने प्रत्येक व्यक्ति को लगभग समान स्तर की क्षमता प्रदान की है। सबके भीतर प्रगति के बीज छिपे पड़े हैं और हर कोई अपनी सामर्थ्य को विकसित करने में समर्थ है। अंतर इतना ही रहता है कि साहसी लोग अपने को पहचानते हैं—अपने ऊपर भरोसा करते हैं और अपनी श्रेष्ठता से साथियों को प्रभावित करके अच्छा सम्मान, सद्भाव एवं सहयोग

संपादित करते हैं। इसके विपरीत दब्बू लोग यह छाप छोड़ते हैं कि इनसे किसी को कुछ मिलता तो है नहीं—उलटे सदा भार और सिर दर्द होते रहेंगे। इसलिए इससे तो बचना ही ठीक है। हर व्यक्ति एक-दूसरे से कुछ चाहता है और इस आशा से मैत्री करता है कि उनके संपर्क में प्रसन्नता और प्रगति की संभावना बढ़ेगी। जो इस कसौटी पर खरे उतरते हैं, उनके स्नेही, समर्थक और सहयोगी सहज में ही बढ़ते जाते हैं। इसी संचय से मनुष्य उन साधनों से संपन्न बनता है—जो अंतरंग-बहिरंग की प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं।

आत्महीनता से ग्रसित व्यक्ति का मित्र वह है, जो सदा उसके गुणों की चर्चा करे, प्रतिभा को निखारे, प्रशंसा करे और प्रोत्साहन प्रदान करे। साहस की अभिवृद्धि—धन-संपत्ति, विद्या, रूप-सौंदर्य आदि सभी विभूतियों से बढ़ी-चढ़ी उपलब्धि है। साहस जीतता है, आत्मबल सबसे बड़ा बल है। आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ जिस दिशा में भी बढ़ा जाएगा, उसी में सफलता मिलती चली जाएगी। यदि यह तथ्य समझ लिया जाए तो आत्महीनता की निकृष्ट दरिद्रता से पीछा छुड़ाना हर किसी को प्रथम कर्तव्य प्रतीत होगा।

आत्महीनता की व्यथा से ग्रसित व्यक्तियों को मनःचिकित्सकों का परामर्श है कि वे उचित और अनुचित का अंतर करना सीखें और इतना साहस जुटायें कि जो सही हैं, उसी को अपनाने और जो गलत है उससे इंकार करने में दृढ़ता व साहस बरत सके। सहमत होना और हाँ कहना अच्छी बात है। पर जो उचित नहीं जँचता, उसे अस्वीकार करने की हिम्मत भी रखनी ही चाहिए।

जन-संपर्क से काम करने की आदत डालना भी इस दृष्टि से एक अच्छा उपचार है। चार दुकानों पर मोल-भाव करके और घटिया-बढ़िया तलाश करके शाक-भाजी खरीदने का नुस्खा छोटा

होने पर भी इस रोग में बड़े काम का है। अपने हाथों टिकट खरीदने, सामान बुक कराने, सीट रिजर्व कराने जैसे छोटे काम करने से भी हिम्मत खुलती है। आदान-प्रदान में वार्तालाप करना आवश्यक हो जाता है। गोष्ठियों और प्रतियोगिताओं में भाग लेने से भी अपनी अभिव्यक्तता प्रकट करनी पड़ती है। यह अच्छे अभ्यास हैं।

यह न सोचा जाय कि मैं कुछ नहीं हूँ, वरना यह मानना चाहिए कि मैं भी कुछ हूँ। विश्व भर में से व्याप्त असीम बुद्धि-चेतना और प्रचंड शक्ति-सामर्थ्य का समुचित अंश सभी में विद्यमान है। अतः न किसी को निराश-हताश होने की आवश्यकता है और न ही अपने आपको हेय-हीन दुर्बल मानने की। अपने प्रति भरपूर आस्था, अटूट आत्म-विश्वास जाग्रत् कर मस्तिष्कीय शक्तियों का जगाने व उनका सदुपयोग करने में ही सर्वविध कल्याण है।

□ □

रोग शारीरिक नहीं, मानसिक

कोलंबिया विश्वविद्यालय के जीव-विज्ञानी डॉ० एच० सिक्स ने अपने अनुसंधानों से यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि शरीर को रासायनिक दोषों से और जेट व्याधियों से मुक्त रखा जा सके तो मनुष्य आसानी से आठ सौ वर्ष जी सकता है। वे कहते हैं—अधिक सक्रियता, दौड़-धूप, उत्तेजना और गर्मी—शरीर को संतप्त करके उसकी जीवनी शक्ति के भंडार को बेतरह खर्च करती है। यदि भीतरी अवयवों पर अतिरिक्त दबाव न पड़े और उन्हें स्वाभाविक-सरल रीति से काम करने दिया जाए तो वे इतने समर्थ रह सकते हैं कि क्षतिपूर्ति का काम आसानी से चलता रहे। नशेबाजी से लेकर वासना, क्रोध, चिंता आदि के आवेशों तक कितने ही ऐसे कारण हैं, जो जितने अनावश्यक उससे ज्यादा हानिकारक है। शांत, सरल, संतुष्ट और प्रसन्न जीवन जीने से निरर्थक उत्तेजना से बचा जा सकता है और जीवनी-शक्ति के क्षरण को बचाकर लंबा जीवन जिया जा सकता है।

अंतःचेतना का जो स्तर होता है उसी के अनुरूप मन, मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान एवं अवयवों के क्रियाकलाप का ढाँचा विनिर्मित होता है और ढर्रा चलता है। आंतरिक उद्वेग की ऊष्मा सारे ढाँचे को प्रभावित करती है और इतना ताप पैदा कर देती है जिससे जीवन तत्त्व भाड़ में भुनने वाले चने की तरह अपनी कोमलता और सरलता से वंचित होते रहें। मनोविकार एक प्रकार की ऐसी आग है जो भीतर ही भीतर जलते रहते हैं, जिससे स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी तत्त्व स्वतः ही विनष्ट होते चले जायें। इंद्रिय भोगों की ललक और संग्रह स्वामित्व की ललक इन्हें वासना और तृष्णा कहा जाता है। यह न बुझने वाली अग्नि-शिखाएँ जिनके

भीतर जल रही होंगी वे अपनी शांति और समस्वरता निरंतर खोते चले जायेंगे।

जिन्हें चिंता, भय, क्रोध, असंतोष सवार रहते हैं, जो निराश और अवसादग्रस्त बैठे रहते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, कपट और मत्सर की दुष्प्रवृत्तियाँ जिन पर सवार रहती हैं उनका अंतकरण निरंतर उद्विग्न रहता है। मन में तनिक भी संतोष-समाधान नहीं होता। यह उद्विग्नता सारी अंतःस्थिति में ज्वार-भाटा उठाती और उसे बेतरह मथती रहती हैं, तो इस विषम स्थिति में ग्रस्त किसी भी व्यक्ति का स्वास्थ्य संतुलित नहीं रह सकता।

अनावश्यक ताप पैदा करने वाले मनोविकार-विक्षोभ एवं उद्देश्यों से बचने और शांत-संतुलित, संतुष्ट और हँसी-खुशी का नियमित जीवन जीने का प्रयत्न करना चाहिए। आहार सीमित और समय पर हो। सादा और अनुत्तेजक साथ ही भूख से कम मात्रा में। ऐसी सावधानी बरतने से पेट में वह ताप उत्पन्न नहीं होता जिसके कारण तीन चौथाई मनुष्यों को अपनी जीवनी शक्ति से बुरी तरह हाथ धोना पड़ता है।

अंतरंग में बढ़ी हुई उत्तेजना श्वास-प्रश्वास की गति को तीव्र करती है। क्रोध की स्थिति में नाड़ी की, हृदय की गति बहुत बढ़ जाती है। काम सेवन के समय भी यह चाल बहुत तेज हो जाती है। बढ़े हुए श्वास आम तौर से और की शक्ति का क्षरण ही करते हैं। श्वास-प्रश्वास क्रिया के तीव्र और मंद रहने का भी आयुष्य से बड़ा संबंध है। जो जीव हाँफते हैं, जिनके श्वास तेज चलते हैं, वे अधिक समय नहीं जीते। उनकी आयु जल्दी ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त जिसकी साँस मंद चलती है वे अधिक दिन जीवित रहते हैं।

"साइंस ऑफ माइंड" (मस्तिष्क विज्ञान) पत्रिका के जनवरी १९५६ अंक में डॉ० बारबरा बेल का एक लेख छपा है—'मेन्टल मीनु' (मस्तिष्क की भोजन तालिका)। इस लेख में विद्वान् लेखक ने

बताया है कि मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है या अस्वस्थ इसकी अधिकांश पहचान उसकी आहार व्यवस्था को देखकर लगाया जा सकता है, पर यह आवश्यक नहीं कि शरीर से स्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ और सुखी हो ही—जब तक कि वह मानसिक दृष्टि से भी स्वस्थ नहीं हो।

'मस्तिष्क स्वस्थ है या नहीं, यह जानने के लिए उसके विचार मानसिक विश्लेषण और चिंतन की दिशा जानना आवश्यक है। विचार आत्मा का भोजन और पेय होते हैं। मस्तिष्क की स्वस्थता और आत्मा की सुख-शांति के लिए सुव्यवस्थित और अच्छे विचारों का मस्तिष्क में निरंतर उठते रहना आवश्यक है। प्राचीन काल के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि तब लोग अधिकांश इसी प्रयत्न में रहते थे कि मन निम्न और अधोगामी बनने न पाए, इसके लिए कष्टसाध्य तीर्थ यात्राएँ, सत्संग और नित्य स्वाध्याय के कार्यक्रमों का—आध्यात्मिक धार्मिक और वैराग्यपूर्ण चिंतन का स्रोत मस्तिष्क में निरंतर प्रवाहित बनाये रहते थे। उसी का प्रतिफल था कि तब लोग स्वल्प साधनों में ही अपार सुख-शांति का रसास्वादन करते थे।

विचार और भावनाओं की अदृश्य शक्ति का हमारे भारतीय शास्त्रों में गहन अध्ययन हुआ है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि स्थूल रूप से मनुष्य का जैसा भी कुछ जीवन है, उसकी भावनाओं का ही परिणाम है, भले ही उनका संबंध इस जीवन से न हो, पर कोई भी कष्ट या दुःख, रोग-शोक या बीमारी हमारे पूर्वकृत कर्मों और उसके पूर्व पैदा हुए मन के दुर्भावों का ही प्रतिफल होता है।'

बुरे विचार रक्त में विकार उत्पन्न करते हैं और तभी रोगाणुओं की वृद्धि होती है। यह विचार और भावनाओं के आवेश पर है कि उनका प्रभाव धीरे होता है या शीघ्र, पर यह

निश्चित है कि मन के भीतर अदृश्य रूप से जैसे अच्छे या बुरे विचार उठते रहते हैं, उसी तरह के रक्त कण शरीर को सशक्त या कमजोर बनाते रहते हैं, मनोभावों की तीव्रता की स्थिति में प्रभाव भी तीव्र होता है। यदि कोई विचार हल्के उठते हैं तो उससे शरीर की स्थूल प्रकृति धीरे-धीरे प्रभावित होती रहती है और उसका कोई दृश्य रूप कुछ समय के बाद देखने में आता है।

इंग्लैंड के डॉक्टर जॉन हंटर बड़े योग्य चिकित्साशास्त्री थे। उन्होंने बड़े-बड़े रोगों को ठीक करने में सफलता पाई, किंतु उनकी धर्मपत्नी कुछ उग्र स्वभाव की थीं, फलस्वरूप उन्हें भी प्रायः क्रोध आ जाया करता था और उसके कारण वे स्वयं ही अस्वस्थ रहा करते थे।

एक बार डॉक्टरों को किसी सभा में भाग लेते समय किसी व्यक्ति से सहमति न होने पर उन्हें जोर का गुस्सा आया, उससे शरीर का रक्त चाप एकाएक बढ़ गया। दिल का दौरा पड़ा और हंटर की वहीं मृत्यु हो गई। डॉक्टरों ने खोज करके बताया कि उस समय उनके रक्त का दबाव २३० था, जबकि सामान्य स्थिति में १३० ही रहता है। इस बढ़े हुए दबाव के कारण शरीर की कोई भी शिरा फट सकती है। इसी प्रकार सामान्य अवस्था में किसी की हृदयगति यदि ८० प्रति मिनट होती है तो क्रोध की अवस्था में धड़कन बढ़कर १२० प्रति मिनट तक हो जाती है। रक्त का दबाव और धड़कन में वृद्धि के साथ ही शरीर की दूसरी सब ग्रंथियाँ जीवन में काम आने वाले शारीरिक रस निरर्थक मात्रा में पटक देती हैं। उससे शरीर की व्यवस्था और रचनात्मक शक्ति कमजोर पड़ जाती है और मनुष्य रोगी या बीमार हो जाता है।

भारतीय योगियों ने इस तथ्य का अत्यंत सूक्ष्म अध्ययन किया है और में बताया है—

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्।
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहति प्राणवायवः
असमं बहति प्राणे नाड्यो यांति विसंस्थितिम्।
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं याति काश्चिच्च रिक्तताम्।
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसंचारदुष्क्रमात्।।
तथान्नानि नयत्यंतः प्राणवातः स्वमाश्रयम्।
यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यंतः शरीरके।
तान्येव व्याधितां यांति परिणामस्वभावतः।।
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति।।

अर्थात्—चित्त में उत्पन्न हुए विकार से ही शरीर में दोष पैदा होते हैं। शरीर में क्षोभ या दोष उत्पन्न होने से प्राणों के प्रसार में विषमता आती है और प्राणों की गति में विकार होने से नाड़ियों के परस्पर संबंध में खराबी आ जाती है। कुछ नाड़ियों की शक्ति का तो स्राव हो जाता है, कुछ में जमाव हो जाता है।

प्राणों की गति में खराबी से अन्न अच्छी तरह नहीं पचता। कभी कम, कभी अधिक पचता है। प्राणों के सूक्ष्म यंत्रों में अन्न के स्थूल कण पहुँच जाते हैं और जमा होकर सड़ने लगते हैं, उसी से रोग उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार आधि (मानसिक रोग) से ही व्याधि (शारीरिक रोग) उत्पन्न होते हैं। उन्हें ठीक करने के लिए मनुष्य को औषधि की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी यह कि मनुष्य अपने बुरे स्वभाव और मनोविकारों को ठीक कर ले।

पाश्चात्य वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और डॉक्टर अब उपरोक्त तथ्यों को और भी गहराई तक समझने लगे हैं। 'दि फील्ड ऑफ डिसीजेज' में सर बी० डब्ल्यू रिचर्ड्सन ने लिखा है कि—"मानसिक उद्वेग एवं चिंताओं के कारण प्रायः फुंसियाँ निकल आती हैं, कैंसर,

मिर्गी और पागलपन आदि हालत में भी सबसे पहले मानसिक जगत् में ही विकार बढ़े होते हैं।"

वैज्ञानिकों ने दीर्घकाल तक शरीर की थकावट के कारणों की जाँच में जो प्रयोग किये हैं, उनका कहना है कि लोगों की थकावट का कारण शारीरिक परिश्रम नहीं होता वरन् उतावलापन, घबराहट, चिंता, विषम मनःस्थिति या अत्यधिक भावुकता होती है। निराशा जनित घबराहट, अधूरी आशाएँ और शक्ति से अधिक कामनायें, भावुकता की परस्पर विरोधी उलझनें भी रोगी में थकान लाती हैं। हीन भावना से भी शरीर टूटता है। थकान से बचने के लिए आवश्यक है कि मन में सदैव प्रसन्नता और आशावादी विचारों का संचार किये रखा जाये।

अमेरिका में हुए मनोवैज्ञानिक शोध में डॉक्टरों के एक चिकित्सा दल ने अपनी अंतिम रिपोर्ट इस प्रकार दी है—"शारीरिक थकावट के १०० रोगियों में से ६० को कोई शारीरिक रोग न था वरन् वे मानसिक दृष्टि से दूषित व्यक्ति थे। अपच के ७०, गर्दन के दर्द के पीछे के ७५, सिरदर्द और चक्कर आने के ८०-८०, गले के दर्द के ६० और पेट में वायु विकार के ६६ प्रतिशत रोगी केवल भावनाओं के दुष्परिणाम से पीड़ित थे। पेट में अल्सर जैसे दर्द और मूत्राशय में सूजन जैसी बीमारियों के ५० प्रतिशत रोगी भी निर्विवाद रूप से अपने दुर्गुणों के कारण पीड़ित थे, शेष के बारे में कोई निश्चित राय इसलिए नहीं बनाई जा सकी, क्योंकि उनका विस्तृत मानसिक अध्ययन नहीं किया जा सका।"

इसी प्रकार डॉ० टुके ने 'इन्फ्लुएन्स ऑफ दि माइंड अपान दि बाडी' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि पागलपन, मूढ़ता, लकवा, अधिक पसीना आना, पांडुरोग, बालों का शीघ्र गिरना, रक्त-हीनता, घबराहट, गर्भाशय में बच्चों की शारीरिक विकृति,

चर्मरोग, फोड़े-फुंसियाँ, एग्जिमा आदि अनेक बीमारियाँ केवल मानसिक क्षोभ से ही उत्पन्न होती हैं।

मानसिक स्थिति में विकृति आते ही शरीर का ढाँचा लड़खड़ाने लगता है। स्पष्टतः सारे शरीर पर मन का नियंत्रण है। उसका एक अचेतन भाग रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निद्रा, पलक झपकना, पाचन, मल-विसर्जन आदि स्वसंचालित क्रियाकलापों पर नियंत्रण करता है और दूसरा सचेतन भाग विभिन्न प्रकार के जीवन व्यवहारों के लिए दशों इंद्रियों को—अंग-प्रत्यंगों को सक्रिय करता है। शरीर और मन का अविच्छिन्न संबंध है। जो इस तथ्य को जानते हैं उन्हें विदित है कि मन को असंतुलित करने का अर्थ न केवल शोक-संतापों में डूबकर असंतोष एवं उद्वेग की आग में जलना है वरन् अच्छे-भले शरीर को भी रोगी बना डालना है। अगणित शारीरिक रोग मानसिक असंतुलन के कारण ही उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही रोगों में एक जुकाम भी है।

अनेकों कठिन बीमारियों के इलाज ढूँढ़ निकाले गये हैं, पर एक रोग आज भी ऐसा है जो अनेकों औषधियों के उपरांत भी काबू में नहीं आ रहा है—वह है—जुकाम।

शरीरशास्त्रियों के अनुसार जुकाम के भी विषाणु होते हैं। पर उनकी प्रकृति अन्य सजातीयों से सर्वथा भिन्न है। चेचक आदि का आक्रमण एक बार हो जाने के उपरांत शरीर में उस रोग से लड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है। फलतः नये आक्रमण का खतरा नहीं रहता, पर जुकाम के बारे में यह बात नहीं है। वह बार-बार और लगातार होता रहता है। एक बार जिस दवा से अच्छा हुआ था, दूसरी बार उससे अच्छा नहीं होता, जबकि यह बात दूसरी बीमारियों पर लागू नहीं होती।

कनाडा के एक शरीरशास्त्री और मनोविज्ञानी डॉ० डानियल कोपान का मत है—"जुकाम उतना शारीरिक रोग नहीं जितना

मानसिक है।" जब मनुष्य थका, हारा और निढाल होता है तो उसे अपनी असफलताएँ निकट दीखती हैं, उस लांछन से बचने के लिए वह जुकाम बुला लेता है, ताकि दूसरे उसकी हार का दोष इस आपत्ति के सिर मढ़ते हुए उसे निर्दोष ठहरा सकें। यह रोग वस्तुतः अंतर्मन का अनुदान है, जो व्यक्ति को स्वल्प शारीरिक कष्ट देकर उसे असफलता के लांछन से बचाता है। ऐसा रोगी बहुत हद तक पराजय की आत्म-प्रताड़ना से बच जाता है। जुकाम की दैवी विपत्ति टूट पड़ने से वह हारा, उसकी योग्यता, हिम्मत एवं चेष्टा में कोई कमी नहीं थी। यह मान लेने पर मनुष्य को सांत्वना की एक हल्की थपकी मिल जाती है। अंतःचेतना इसी प्रयोजन के लिए जुकाम का ताना-बाना बुनती है।

कोपान ने अपनी मान्यता की पुष्टि में अनेकों प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। खिलाड़ी लोग प्रतियोगिता के दिनों, विद्यार्थी परीक्षा के दिनों, प्रत्याशी चुनाव तिथि पर अक्सर जुकाम पीड़ित होते हैं और इनमें अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी सफलता पर संदेह होता है और हार की विभीषिका दिल को कमजोर करती है।

जुकाम के विषाणु होते तो हैं और उनमें एक से दूसरे को छूत लगाने की भी क्षमता होती है, पर उतने कष्टकारक नहीं होते जितने कि मनुष्यों को पीड़ित करते हैं। चूहे, बंदर आदि के शरीर में जुकाम के विषाणु प्रवेश कराये गये, किंतु उनके शरीर पर कोई असर नहीं हुआ।

जुकाम का कारण सर्दी है, यह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ध्रुव प्रदेश में कड़ाके की ठंड का सामना करते हुए पीढ़ियाँ बिता देने वाले एस्किमो लोगों में से किसी को कभी भी जुकाम नहीं होता। उस क्षेत्र में अन्वेषण के लिए जाने वाले खोजी दलों का भी यही कथन है कि जब तक वे ध्रुव प्रदेश में रहे तब तक उन्हें

जुकाम नहीं हुआ। पर्यवेक्षणों का निष्कर्ष यह है कि शीत ऋतु में कम और गर्मी के दिनों में जुकाम का प्रकोप अधिक होता है।

जुकाम की कितनी ही दवाएँ आविष्कृत हुईं, पर वे सभी अपने प्रयोजन में असफल रहीं। एस्प्रीन कुछ लाभ जरूर पहुँचाती है, पर उससे दूसरी प्रकार की नई उलझनें उठ खड़ी होती हैं, जो मूल रोग से कम कष्टकारक नहीं हैं। वस्तुतः जुकाम की शारीरिक नहीं मानसिक रोग कहना अधिक उपयुक्त होगा। इन दिनों अधिकांश रोगों के मूल में मानसिक विकृतियाँ सामने आ रही हैं। शरीर के अंदरूनी अवयवों में आई खराबी के कारण उत्पन्न होने वाली परेशानियाँ तो आसानी से दूर हो जाती हैं। शरीर स्वयं ही उनकी सफाई कर लेता है, परंतु कई घातक रोग—जिन्हें दुःसाध्य भी कहा जाता है, मनोविकारों की ही परिणति होते हैं। मिर्गी रोग को ही लें, मिर्गी रोग से पीड़ित मनुष्य की कैसी दयनीय स्थिति होती है, यह किसी से छिपा नहीं है। जब दौरा पड़ता है तो सारा शरीर विचित्र जकड़न एवं हड़कंप की ऐसी स्थिति में फँस जाता है कि देखने वाले भी डरने-घबराने लगें। जहाँ सुरक्षा की व्यवस्था न हो वहाँ दौरा पड़ जाय तो दुर्घटना भी हो सकती है। सड़क पर गिर कर किसी वाहन की चपेट में आ जाने, आग की समीपता होने पर जल मरने की आशंका बनी ही रहती है। मस्तिष्कीय जड़ता के कारण बुद्धि मंद होती जाती है और क्रिया कुशलता की दृष्टि से पिछड़ता ही जाता है। दौरा पड़ने के बाद जब होश आता है तो रोगी अनुभव करता है—मानो कई दिनों की बीमारी के बाद उठने जैसी अशक्तता ने उसे घेर लिया है। लोग सोचते हैं मिर्गी होने की अपेक्षा यदि एक हाथ-पाँव चला जाता तो कहीं अच्छा रहता।

मिर्गी क्या है ? इस संबंध में खोज-बीन करने पर इतना ही जाना जा सका है कि यह अचेतन मन में पड़ी हुई किसी ग्रंथि का अवरोध है। मस्तिष्कीय संरचना के बारे में बहुत कुछ खोज बीन हो

चुकी है और उन खोजों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि मिर्गी रोग का कारण मन में जमी हुई गहरी ग्रंथियाँ हैं।

मानसिक संतुलन में प्रत्यक्ष या परोक्ष अवरोध उत्पन्न होने से कई प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, इनमें विविध प्रकार की मिर्गी सदृश मूर्च्छाएँ भी सम्मिलित हैं।

अमेरिका के मानसिक रोग विज्ञानी राबर्ट डी० राय ने विस्तृत सर्वेक्षण के बाद लिखा है कि—कैंसर, हृदय रोग और क्षय रोगों को उत्पन्न करने में मनोविकृतियाँ भी प्रमुख हैं। फिर भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत है जो मानसिक विकृति से ग्रस्त रहते हैं। इनमें से एक तिहाई ही इलाज के लिए आते हैं, दो तिहाई तो अपनी स्थिति को समझ तक नहीं पाते और ऐसे ही अस्त-व्यस्त स्थिति में स्वयं दुःख पाते और दूसरों को दुःख देते हुए भटकते रहते हैं। जीन माइनोल ने अपनी पुस्तक 'दि फिलॉसफी ऑफ लोंग लाइफ' पुस्तक में लिखा है—जल्दी मृत्यु का एक बहुत बड़ा कारण है—मृत्यु भय। लोग बुढ़ापा आने के साथ-साथ अथवा छुटपुट बीमारियाँ उत्पन्न होते ही मृत्यु की आशंका से भयभीत रहने लगते हैं और वह डर उसके मस्तिष्क की बाहरी पर्तों में इस कदर धँसता जाता है कि देर तक जी सकना कठिन बन जाता है। वह डर ही सबसे बड़ा रोग है जो मृत्यु को अपेक्षाकृत जल्दी ही समीप लाकर खड़ा कर देता है।

अरब देशों में कुछ शताब्दियों पूर्व एक प्रख्यात चिकित्सक हुआ है—हकीम इब्नसीना। उसने अपनी पुस्तक 'कानून' में अपने ऐसे अनेकों चिकित्सा अनुभवों का उल्लेख किया है कि अमुक प्रकार के मानसिक उभारों के कारण शरीर में अमुक प्रकार की विकृतियाँ या बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं। चिकित्सा उपचार में उसने दवादारू के स्थान पर उनकी मनःस्थिति बदलने के उपाय बरते और असाध्य लगने वाले रोग आसानी से अच्छे हो गए।

'इलिनोयस इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी' द्वारा संग्रहीत आँकड़े यह बताते हैं कि चिंतातुर व्यक्तियों को जिस भयभीत स्थिति में रहते हुए अपनी शांति गँवानी पड़ती है, उसका वास्तविक अस्तित्व कम और काल्पनिक बबंडर अधिक होता है। जो आशंका, आतंक उन पर छाया रहता है, उसका मूर्तिमान् रूप कदाचित् ही कभी सामने आता है।

येल विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग ने भयभीत मनःस्थिति का शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ने और स्वास्थ्य नष्ट होने की प्रतिक्रिया के अनेक तथ्य प्रस्तुत करते हुए प्रमाणित किया है—चिंता अथवा भय की स्थिति में पड़े हुए व्यक्तियों के दिल की धड़कन बढ़ जाती है, बड़ी तेज चलने लगती है, गला सूखता है, पसीना छूटता है, कमजोरी अनुभव होती है और पेट बैठता-सा लगता है और सिर पर बोझ लदा-सा अनुभव होता है, नींद घट जाती है और स्मरण शक्ति झीनी पड़ती चली जाती हैं।

चिंता सामान्य और भयभीतता बढ़ी हुई स्थिति है। वस्तुतः दोनों एक ही बीमारी के हल्के-भारी दो रूप हैं, उनका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विश्लेषण करते हुए आयोग ने बताया कि सिर दर्द की स्थिति में जो शारीरिक संतुलन बिगड़ता है—उसकी तुलना में चिंता में ड्योढ़ी और भयभीत स्थिति में दूनी गड़बड़ी उत्पन्न होती है। शरीर को इसी अनुपात में दबाव सहन करना पड़ता है।

आयोग ने एक आश्चर्यजनक तथ्य यह भी देखा है कि मानसिक रोगियों का इलाज करते-करते स्वयं मानसोपचारक भी चिंतित रहने लगते हैं। अचेतन उन्हें भी बख्शता नहीं। दूसरों को उपदेश देने और इलाज करने के बावजूद वे स्वयं भी सामान्य कठिनाइयों में बेतरह उलझे पाये जाते हैं। आश्चर्य यह है कि अपनी जैसी स्थिति में दूसरे व्यक्ति को रोगी गिनते हैं और अपने को निरोग। यह छूत की बीमारी उन्हें अपने रोगियों से और वैसी ही

बातों की उधेड़ बुन करते रहने के कारण लग गई होती है। आयोग का सुझाव है कि मानसोपचार का कार्य बहुत ही सुदृढ़ मनःस्थिति के 'मस्त मौला' लोगों को करना चाहिए।

चिंतातुर व्यक्तियों का पूर्व इतिहास खोजने पर यह निष्कर्ष निकला है कि वे दुराव रखने वाले और आडंबर बनाने वाले, बहानेबाज एवं ढोंगी रहे होते हैं। छिपाव की वृत्ति अपने नये रूप के चिंता बनकर मस्तिष्क में जड़ जमाती है और बढ़ने पर भयाक्रांत, आशंकाग्रस्त बना देती है, ऐसे मनुष्य पग-पग पर अपने ऊपर कोई बड़ा संकट अब-तब आता देखते रहते हैं। यद्यपि उन आशंकाओं में एकाध का ही सामना किसी-किसी को करना पड़ता है।

साइकोन्यूरोटिक की स्थिति यह है कि उसमें कई विचारों का समन्वय करके तर्क और बुद्धि का ठीक तरह उपयोग नहीं हो पाता। कुछ एकांगी मान्यताएँ ही मस्तिष्क पर छाई रहती हैं और मनुष्य बिना सोच विचार किये उन्हें ही सच मानता और अपनाये रहता है। यह अविकसित मस्तिष्क का चिह्न है। इसे बाल बुद्धि कह सकते हैं। छोटे बच्चों में भी तर्क शक्ति विकसित नहीं होती, वे इच्छाओं, उत्साहों और भावनाओं में ही प्रेरित रहते हैं।

नशेबाजी और अपराधियों में भी इस रोग के लक्षण उभरे रहते हैं। वे अपनी आदतों के विरुद्ध सुनते तो बहुत कुछ हैं, पर अचेतन उनसे प्रभावित नहीं होता और जो आदत अपना ली गई है वह हर हालत में अपने ढर्रे पर चलती ही रहती है। अंधविश्वासी तथा अति भावुक व्यक्ति भी आंशिक रूप में इसी व्यथा के चंगुल में फँसे होते हैं।

ऐंक्जाइटी न्यूरोसिस—दुश्चिंता से अनेकानेक घिरे देखे पाये जा सकते हैं। चिंता वास्तविक है या अवास्तविक ? निकट भविष्य में जिस आशंका की विभीषिका कल्पित की गई है वह आने वाली भी है या नहीं ? इन दिनों जिस संकट में अपने को जकड़ा हुआ मान लिया गया है वह अपनी मान्यता के अनुरूप भयंकर है भी या

नहीं ? यह सोचने को ऐसे लोगों को फुरसत ही नहीं होती। वे अपनी भयंकर कल्पना को निरंतर सोचते और परिपुष्ट करते रहते हैं, अस्तु वह इतनी प्रबल एवं प्रभावशाली बन जाती हैं कि अवास्तविक होते हुए भी वास्तविकता से भी अधिक त्रास देती है। वास्तविक संकट आने पर शायद उतना कष्ट न सहना पड़ता जितना उस अवास्तविक कल्पना ने दे डाला, इस निष्कर्ष पर पहुँच सकना उनसे बन ही नहीं पड़ता।

आब्सेसिव कंपलसिव न्यूरोसिस में भीतर की घुटन बाहर फूट पड़ती है। दुश्चिंताएँ मस्तिष्क के भीतर तक सीमित नहीं रहतीं वरन् उस दीवार को फोड़ कर बाहर निकल पड़ती हैं और क्रिया के साथ संबद्ध होकर ऐसे आचरण प्रस्तुत करती है जो उपहासास्पद होते हैं और दयनीय भी। यों उसे ऐसा लगता है मानो चिंताएँ, पीड़ा एवं प्रताड़ना के रूप में उसे संत्रस्त कर रही है, अस्तु यह रोता कलपता एवं सिर धुनता हुआ देखा जाता है। आँखों में से आँसू, सिर में दर्द, चेहरे पर छाई विषाद की गहरी रेखा देखकर देखने वाला यही कह सकता है, इसे बहुत कुछ सहना पड़ रहा है और किसी भारी संकट से होकर गुजरना पड़ रहा है।

इस रोग का रोगी हर समय अपने इर्द-गिर्द अपवित्रता घिरी देखता है। आँतों में मल, कंठ में कफ भरा रहने की शिकायत रहती है। हाथ, पैर, मुँह धोने और कुल्ला करने की बार-बार आवश्यकता पड़ती है। बर्तन, कपड़े, फर्श, बिस्तर, फर्नीचर आदि गंदे लगते हैं, इसलिए उन्हें अनेक बार धोते रहने पर भी संतोष नहीं होता और वही क्रिया उलट-पुलट कर फिर करने को जी करता है। दूसरे पूछ सकते हैं अथवा अपनी तर्क बुद्धि जबाव तलब कर सकती है कि यह सब बार-बार क्यों किया जा रहा है ? इसलिए अचेतन मन उसका उत्तर देने के लिए कुछ न कुछ बहाना भी गढ़ लेता है। उससे उसे यह संतोष हो जाता है, यह क्रिया निरर्थक नहीं वरन् सार्थक की जा रही है।

हताश हुए मनुष्य अपना मस्तिष्क संतुलन खो बैठते हैं और अवसाद ग्रस्त होकर सामान्य शरीर संचालन के क्रियाकलापों तक से वंचित हो जाते हैं। खाने, सोने और नित्य कर्म करने भर की याद तो रहती है, पर अन्य उत्तरदायित्वों और निर्धारित कर्तव्यों को एक प्रकार से भूल ही जाते हैं। याद दिलाने पर ही कुछ कर पाते हैं, अन्यथा खोये-खोये से, भूले-भाले से, जहाँ-तहाँ बैठे किसी स्वप्न-लोक में विचरते रहते हैं। गहरी निराशा से ऐसी या इससे मिलती-जुलती स्थिति बन जाती है, इसे मानसिक चिकित्सा के संदर्भ में एजीटेटेड डिप्रेसिव साइकोसिस कहते हैं।

अपनी निजी उलझनों के संबंध में अत्यधिक उलझे रहना और उन्हीं पर उलट-पुलट कर विचार करते रहना एक ऐसा गलत क्रम है—जिससे मनुष्य संकीर्णता ग्रस्त हो जाता है और उसे तरह-तरह के मनोविकार धर दबोचते हैं। इस स्थिति को न्यूरेस्थीनिया कहते हैं।

केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की पिछली वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार अपने देश में इस समय लगभग एक करोड़ से अधिक मानसिक रोगी हैं। इनमें से कम से कम आठ लाख से अधिक तो ऐसे हैं जिन्हें पागल खानों में स्थान मिलना चाहिए अन्यथा वे दूसरे लोगों की शांति भंग करते ही रहेंगे। ऐसे लोग जो मानसिक दृष्टि से छोटे से छोटे बच्चों जैसी अविकसित स्थिति में रह कर गुजार रहे हैं लगभग १६ लाख से अधिक हैं।

मनुष्य समाज में बढ़ रही मानसिक अक्षमता और विकार-ग्रस्तता का प्रमुख कारण यह है कि हमारा थोड़ा-बहुत ध्यान स्वास्थ्य की उपयोगिता समझने पर तो गया भी है, पर मानसिक स्वास्थ्य की बात एक प्रकार से विस्मृत ही कर दी गई है। मानसिक दृष्टि से अविकसित स्त्री, पुरुषों की संतानें पैतृक उत्तराधिकार के रूप में अदक्षता लेकर जन्मता है और फिर बच्चों के मानसिक परिष्कार की कोई व्यवस्था न होने से वे क्रमशः बढ़ती ही जाती हैं।

❑ ❑

मानसिक संतुलन यों साधें

सुख-दुःख, प्रसन्नता-खिन्नता, चिंता, भय और इसी तरह की अनुभूतियों जो मनुष्य को आनंदित व प्रफुल्लित रखती हैं पूरी तरह मनःसंस्थान से संबंध रखती है। एक पार्ट—स्थिति किसी के लिए सुखद हो सकती है तो वही परिस्थिति किसी अन्य व्यक्ति के लिए अत्याधिक दुःखद और कष्टकर हो सकती है। उसका कारण मानसिक स्थिति की बनावट ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति सामान्य सी परेशानी के कारण भी इतना दुःखी उद्विग्न हो उठता है कि उसे अपना जीवन नाटकीय, न जीने योग्य लगने लगता है। दूसरे कई व्यक्ति उससे भी कठिन और परेशानी उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को हँसते-हँसते झेल लेते हैं। इसका क्या कारण है ? एक ही कारण कहा जा सकता है—मानसिक स्थिति की बनावट, संतुलित या असंतुलित मनः स्थिति।

जिन कारणों से मानसिक शांति नष्ट होती है, कार्य करने की क्षमता घटती है, परेशानी और उद्विग्नता बढ़ती है—वे सभी कारण मस्तिष्कीय क्षमताओं को घटाते हैं, साथ ही उन्हें रोगी और दुर्बल भी बनाते हैं। मस्तिष्कीय क्षमताओं का समुचित सदुपयोग करने के लिए आवश्यक है कि मानसिक संतुलन साधा जाये ताकि सभी परिस्थितियों में शांत-प्रसन्न और प्रफुल्लित रहते हुए अभीष्ट दिशा में आगे बढ़ता रहा जा सके।

मानसिक संतुलन को साधने और सुस्थिर रखने का एकमेव उपाय है कि बाहरी प्रभावों से मुक्त रहते हुए अपने दृष्टिकोण और चिंतन की दिशा-धारा को ऐसा मोड़ दिया जाये जिससे कि सदैव प्रसन्न और प्रफुल्लित रहा जा सके। प्रत्येक परिस्थिति में मानसिक संतुलन स्थिर रखने के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—(१) प्रत्येक बुरी

परिस्थिति से अप्रभावित रहा जाय और (२) जिस किसी के भी संपर्क में आना पड़े उनके कारण अपने आपको विचलित न होने दे।

➢ दृष्टिकोण बदलें

भली बुरी परिस्थितियों के कारण अधिकांश लोग प्रसन्न-उद्विग्न होते हैं। उचित तो यह है कि दोनों परिस्थितियों में अपने आपको स्थिर रखा जाए। इतना न हो सके तो भी परिस्थितियों के बुरे प्रभाव से तो अपने को बचाना ही चाहिए। 'विपर्यय' संसार का स्वाभाविक नियम है। दो विपरीत भावों को लेकर इसकी रचना की गई। रात-दिन, आलोक-अंधकार, धूप-छाँह, उदय-अस्त, जीवन-मरण, परिश्रम-विश्राम, निद्रा और जागरण एक अनादि, अविच्छिन्न क्रम का दूसरा नाम ही संसार हैं। जिस प्रकार संसार इस प्रतिभावात्मक क्रम के अंतर्गत गतिशील उसी प्रकार इसका परिणाम भी प्रतिभावात्मक ही है। सुख और दुःख संसार के केवल मात्र दो फल हैं। विविध रूपों और प्रकारों से प्रत्येक प्राणी इन फलों का स्वाद लेता हुआ जीवनयापन कर रहा है।

यद्यपि सुख और दुःख संसार के दो फल हैं तथापि देखने में यही आता है कि अधिकतर लोग दुःखपूर्ण जीवन ही व्यतीत कर रहे हैं। हजारो में कदाचित् ही कोई एक व्यक्ति ऐसा मिले, जो वास्तविक रूप में सुखी कहा जा सके। संसार में सुख होते हुए भी मनुष्य जो उससे वंचित दीखता है, उसका प्रमुख कारण उसकी अपनी मानसिक कमजोरी है। बाह्य परिस्थितियाँ मनुष्य को उतना परेशान नहीं करतीं जितना कि वह अपनी आंतरिक दुर्बलता से दुःखी और व्यग्र होता है।

सुख-दुःख का अपना कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है। इनका उदय एक-दूसरे के अभाव में ही होता है और इन दोनों का उदय

स्थल मनुष्य का मन है। जिस समय मन प्रसन्न और प्रफुल्ल होता है, संसार में चारों ओर सुख ही सुख दिखाई देता है। इसके विपरीत जब मन विषाद और निराशा से घिरा होता है तो हर दिशा में दुःख के ही दर्शन होते हैं।

अस्तु, दुःख से बचने के लिए मन को सदा प्रसन्न, प्रफुल्ल, उत्साह और आशापूर्ण बनाये रखना आवश्यक है। प्रत्येक अनुभूति का मूल केंद्र 'मन' जितना ही अधिक सबल और सशक्त होगा मनुष्य उतना ही सुखी और संतुष्ट रहेगा।

यदि अनुपात लगाकर देखा जाये तो ज्ञात होगा कि सुख की अपेक्षा मनुष्य दुःख ही अधिक भोग रहा है। इसका कारण यह नहीं है कि संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है, बल्कि इसका कारण यह है कि मनुष्य ने अपनी दशा को दुःख के अनुकूल बना लिया है।

सांसारिक क्रम के अनुसार मनुष्य पर परेशानियों, कठिनाइयों और मुसीबतों का आना कोई अचंभे की बात नहीं है। परेशान करने वाली परिस्थितियाँ सबके सम्मुख आती हैं और सभी को उनसे निपटना पड़ता है। अब यह एक भिन्न बात है कि कोई आई हुई विपत्ति पर विजय पा लेता है और कोई उनसे दब कर कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करता रहता है।

आई हुई विपत्तियों को अपने पर हावी न होने देकर जो शांत-चित्त और स्थिर बुद्धि से उनके निराकरण का प्रयत्न करता है, वह शीघ्र ही उन्हें दूर भगा देता है, किंतु जो व्यक्ति किसी विपत्ति की संभावना अथवा उसके आने पर घबराकर अशांत और उद्विग्न हो उठता है तो उसका सारा जीवन ही कटुतापूर्ण हो जाता है।

अशांत और उद्विग्न रहने वाले व्यक्ति के भाग्य से जीवन के सारे सुख उठ जाते हैं। उसके विकास और उन्नति की सारी संभावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। निराशा और विषाद उसे रोग की तरह

घेर लेते हैं। न उसे भोजन भाता है और न नींद आती है। जरा-जरा सी बात पर कुढ़ता, चिढ़ता और खीजता है। बड़ी-बड़ी अप्रिय एवं अस्वास्थ्यकर कुंठाओं से उसका हृदय भरा रहता है।

अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि मानसिक अशांति मनुष्य के स्नायु संस्थान पर अनुचित बोझ डालकर उसे निर्बल बना देता है, जिससे विश्राम करने की अवस्था में भी उसे आराम नहीं मिलता। चिंतित एवं उद्विग्न चित्त व्यक्ति गहरी नींद न आने के कारण जब सोकर उठता है, तो ताजगी और स्फूर्ति के स्थान पर भारी थकान अनुभव करता है। घंटों तक उसका शरीर उसके कब्जे में नहीं आता। आलस्य, शैथिल्य एवं निर्बलता आदि उसको बुरी तरह से दबाये रहते हैं। इस प्रकार कष्टपूर्ण दिन बिताने के कारण उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और आयु घट जाती है। मानसिक अशांति को मानव-जीवन का जीता-जागता नरक ही कहना चाहिए।

जिस प्रकार शरीर में ताप की अधिकता हो जाने से 'ज्वर' नामक रोग हो जाता है, उसी प्रकार अधिक चिंतित और उद्विग्न रहने वाले व्यक्ति को अशांति और चिंता का मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है। मोनसिक अशांति का एक ऐसा आंतरिक आंदोलन है, जिसके उठने से मनुष्य के सारे विवेक, विचार एवं ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। उसकी बुद्धि असंतुलित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वह अशांति के कारणों का निराकरण कर सकने में सर्वथा असमर्थ रहता है और यदि उद्विग्न अवस्था में कोई उलटे-सीधे प्रयत्न करता भी है तो उसके परिणाम उलटे ही निकलते हैं। एक आपत्ति से छूटकर दूसरी में पड़ जाना, विषाद से छूटकर निराश हो उठना, क्रोध से छूटकर शोक और शोक से छूटकर भय के वशीभूत हो जाने का एक क्रम-सा बन जाता है। मानसिक असंतुलन एक प्रकार की विक्षिप्तता ही होती है, जिसमें फँसकर मनुष्य किसी योग्य नहीं रहता। हर समय

दु:खी, चिंतित और परेशान रहना उसके जीवन क्रम का एक विशिष्ट अंग बन जाता है।

कोई कठिनाई अथवा आपत्ति अपने में उतनी भयंकर नहीं होती जितना कि उसे उसकी मानसिक अशांति जटिल और दुरूह बना देती है। आपत्तियों से छूटने का उपाय चिंता, भय, निराशा, आशंका आदि की प्रतिगामी भावना नहीं है बल्कि साहस, धैर्य और उत्साह की वृत्तियाँ ही होती हैं।

मानसिक अशांति मनुष्य के शरीर में एक भयंकर उत्तेजना में रहने वाले व्यक्ति के रक्त में विष का प्रभाव हो जाता है, जो रक्त के क्षार को नष्ट करके गठिया, यक्ष्मा आदि भयंकर रोगों में प्रकट होता है।

मानसिक अशांति एक भयंकर आपत्ति है। मनुष्य को हर संभव उपाय से इससे बचते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। विपत्तियों से घबराने, भयभीत होने, उनसे भागने अथवा उन्हें लेकर चिंतित होने से आज तक कोई व्यक्ति छुटकारा न पा सका है। बहुधा देखा जाता है कि जो जितना अधिक चिंतित और अशांत रहता है वह और अधिक विपत्ति में फँसता है। इसके विपरीत जो शांत चित्त संतुलित मन और स्थिर बुद्धि से उनका सामना करता है, परेशानी उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं पाती। विपत्ति आने पर मनुष्य अपनी जितनी शक्ति को उद्विग्न और अशांत रहकर नष्ट कर देता है, उसका एक अंश भी यदि वह शांत चित्त रहकर कष्टों को दूर, करने में व्यय करे तो शीघ्र ही मुक्त हो सकता है।

आपत्तियों के आने पर घबराना नहीं चाहिए बल्कि धैर्यपूर्वक उनको हटाने का उपाय करना चाहिए। अधिकतर लोग कठिनाइयों को पार करने का मार्ग निकालने के बजाय अपनी सारी क्षमताओं को व्यग्र और विकल होकर नष्ट कर देते हैं। किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर 'क्या करें' ? 'कहाँ जायें' ? 'कैसे बचें' ? आदि विर्तकना

करते हुए बैठे रहते हैं, जिससे आई हुई विपत्ति भी सौगुनी होकर उन्हें दबा लेती हैं।

जीवन में जो भी दुःख-सुख आए उसे धैर्यपूर्वक तटस्थ भाव से सहन करना चाहिए। क्या सुख और क्या दुःख दोनों को अपने ऊपर से ऐसे गुजर जाने देना चाहिए जैसे वे कोई राहगीर हैं, जिनसे अपना कोई संबंध नहीं।

मनुष्य की मानसिक शांति और बौद्धिक संतुलन—दो ऐसी अमोघ शक्तियाँ हैं, जिनके बल पर विकट से विकट परिस्थिति का भी सामना किया जा सकता है। विपत्तियाँ आती हैं और चली जाती हैं। परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, किंतु जो व्यक्ति इनका प्रभाव ग्रहण कर लेता है, वह मानसिक अशांति के रूप में आजीवन बनाये रहता है और ऐसे मनुष्य के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल फल ही उत्पन्न करती हैं। इस तरह न केवल दुःख अपितु सुख की अवस्था में भी वह दुःखी रहता है।

जीवन को सुखी और संतुष्ट बनाये रखने के लिए मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक अवस्था में अपनी मानसिक शांति को भंग न होने दें, इसकी उपस्थिति में सुख और अभाव में दुःख की वृद्धि होती है।

➢ मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा

परिस्थितियों के बाद मनुष्य की मानसिक स्थिति को प्रभावित करने वाला दूसरा कारण है—सक्की समाज। समाज में रहते हुए मनुष्य को कितने ही तरह के व्यक्तियों के संपर्क में आना पड़ता है। संपर्क में आने वाले लोग कई तरह की प्रकृति के होते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से संपर्क में आते समय अपने आपको अविचल, अप्रभावित रखने के लिए ही शास्त्रों में कहा गया है कि जो संसार में रहते हुए भी उससे

अलग रहे, जल में कमल के पत्ते के समान अछूता रहे, वह सुख और शांति को प्राप्त कर सकता है।

समाज में रहते हुए भी अपने आस-पास के लोगों से अप्रभावित रहना बहुत कठिन है। इस स्थिति को हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता। पर ऐसे नियम हैं जरूर, जिन्हें अपनाकर बाहरी व्यक्तियों के व्यवहार से अछूता रहा जा सकता है। इसी व्यवहार का स्वर्णिम सूत्र लिखते हुए महर्षि पातंजलि के अपने ग्रंथ योगदर्शन में कहा है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

—१।३३

अर्थात्—सुखी, दुःखी पुण्यात्मा और दुष्टात्मा लोगों के प्रति मैत्री, करुणा, प्रफुल्लता और उपेक्षा भाव रखने से चित्त को अखंड प्रसन्नता मिलती है।

स्वामी विवेकानंद ने इस सूत्र का अर्थ खोलते हुए लिखा है—"मन के इस प्रकार के विभिन्न भावों को ग्रहण करने में असमर्थता के कारण हमारे दैनिक जीवन में अधिकांशतः गड़बड़ी एवं अशांति होती है। मान लो, किसी ने मेरे प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया, तो मैं तुरंत उसका प्रतिकार करने के लिए उद्यत हो जाता हूँ और इस प्रकार बदला लेने की यह भावना दर्शा देती है कि हम चित्त को दबा रखने में असमर्थ हो रहे हैं। वह उस वस्तु की ओर तरंगाकार में प्रवाहित होता है और उस हम अपनी मन की शांति खो बैठते हैं। हमारे मन में घृणा अथवा दूसरों का अनिष्ट करने की प्रवृत्ति के रूप में जो प्रतिक्रिया होती है, वह मन की शक्ति का क्षय मात्र है। दूसरी ओर यदि किसी अशुभ विचार या घृणा प्रसूत कार्य अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना का दमन किया जाए तो उससे शुभकारी शक्ति उत्पन्न होकर हमारे ही उपकार के लिए संचित रहती है।"

चित्त का प्रधान गुण है प्रतिक्रिया करना। वह एक फोटो प्लेट की भाँति है, जिसमें भले-बुरे भावों की वैसी ही फोटो आती है। फोटोग्राफर अच्छी तरह जानते हैं कि किस कोण पर खड़ा होने से तस्वीर अच्छी आयेगी और जिस कोण पर भद्दी फोटो आयेगी। इस कोण को समझने और वहीं से चित्र लेने के कारण वे कुरूप से कुरूप वस्तु का भी अच्छा और सुंदर चित्र खींच लेते हैं। चित्त के संबंध में भी यही सत्य है। उसे जिस कोण पर सामने रखा जायेगा वहाँ से वह उसी तरह की तस्वीर खींचेगा। फोटोग्राफर को तो तस्वीर खींचने के लिए कैमरे का बटन दबाना ही पड़ता है। पर मन तो सामने आते ही तस्वीर खींच लेता है और चित्त पर अंकित कर देता है।

प्रतिक्रियाओं से रहित हो जाना उन्हीं के लिए संभव है, जो चित्त क्षय की आध्यात्मिक भूमिका में पहुँच चुके हों। पर सामान्य व्यक्तियों के लिए अपने कैमरे को ठीक कोण पर रखना ही एकमात्र उपाय है,-जिससे बाहर की घटनाओं का चित्त पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। तत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि मनुष्य मूलतः राग और द्वेष के द्वंद्वों में जीता है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ अनर्थकारी कही गयी हैं। जिसके प्रति हमें राग हो, वह आयु पूरी कर लेने के बाद समाप्त हो जाता है, तो राग भंग होने का अवसाद मिलता है। प्रतिकूल परिस्थितियों या घटनायें व्यक्ति को अप्रिय होती हैं। वह उनके संपर्क में नहीं रहना चाहता। इसलिए उनसे घृणा होती है और यह घृणा ही द्वेष बन जाती है। संयोगवश उनका संपर्क होता है, तो भी दुःख मिलता है।

व्यवहार क्षेत्र में हम राग और द्वेष को व्यक्तियों के संबंध में भी देख सकते हैं। कुछ व्यक्ति होते हैं जो प्रिय होते हैं, कुछ के सान्निध्य में रहने पर आकर्षण होता है, कुछ को देखने का मन नहीं करता और कुछ से चित्त बुरी तरह क्षुब्ध हो उठता है। योग-दर्शनकार ने इन्हें ही सुखी, पुण्यात्मा, दुःखी और दुष्टा कहा

है। छोटे-छोटे वर्गीकरण न किये जायें तो हमारे आस-पास यह चार तरह के व्यक्ति ही भरे पड़े हैं। एक वे होते हैं जो हमारी अपेक्षा अधिक साधन संपन्न, बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली और सुखी होते हैं। उनकी स्थिति हमसे अच्छी होने के कारण प्रिय तो लगती है, पर चूँकि वही स्थितियाँ हमारे साथ नहीं होतीं इसलिए उन व्यक्तियों से ईर्ष्या होती है।

ईर्ष्या दाहकारी मनोविकार है। इस मनोविकार से ग्रस्त व्यक्ति स्वयं उत्कर्ष करने के स्थान पर अपनी मानसिक शांति को ही नष्ट-भ्रष्ट करता रहता है। ऐसा होना नहीं चाहिए। अच्छा तो यह हो कि उन व्यक्तियों को भी प्रेम किया जाए और प्रेरणा ग्रहण की जाए। पर 'अहं' कहता है कि उस स्थिति के पात्र हम हैं और उस पर हमारा ही अधिकार रहना चाहिए। प्रगति का नियम है कि जो परिश्रम करता है और पुरुषार्थी बनने के रास्ते पर चलता है वही तरक्की करता है। ईर्ष्या से कभी किसी की प्रगति नहीं हुई है और न ही चाहने पर किसी का पतन होता है। उलटे ईर्ष्या स्वयं अपने लिए ही हानिकर बन जाती है। शास्त्रकारों ने उन्नति के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाले इस विकार को दूर करने का उपाय बताया है—मैत्री। मैत्री का अर्थ है—सद्भावनापूर्ण आत्मीयता। आत्मीयता के संबंध जिससे भी स्थापित किये जायें वह सहयोगी बन जाता है और सहयोग व्यक्ति के विकास में सहायक ही बनता है। देखा जाए तो दुनिया में जितने भी लोग आगे बढ़े और ऊँचे उठे, उन्होंने जितना स्वयं के उत्कर्ष हेतु प्रयत्न किया, उतना ही प्रयत्न अपने से अच्छी स्थिति वालों का सहयोग प्राप्त करने के लिए भी किया।

प्रगति की मंजिल इतनी दूर है और साधन तथा समय इतने स्वल्प होते हैं कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से ही मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। स्वयं के द्वारा ही यदि कोई व्यक्ति मोटर चलाना

सीखना चाहे, किसी की मदद लेना पसंद न करे तो उसे मोटर की रचना प्रक्रिया समझने से लेकर उन्हें ड्राईव करना सीखने तक इतनी मेहनत करनी पड़ेगी तथा इतना समय लगाना पड़ेगा कि सारा जीवन ही लग सकता है। इससे हासिल कुछ नहीं होता। अगर होता भी है तो बड़ी मुश्किल से। इसलिए अनुभवी प्रशिक्षकों की मदद लेनी पड़ती है। अपने से अच्छी स्थिति वाले लोगों की मैत्री का अर्थ है—उनसे सहयोग प्राप्त करने और उनके अनुभवों का लाभ उठाने का मार्ग तलाशना।

दूसरे प्रकार के लोग वे होते हैं जो कष्टकारी स्थिति में हैं, दुःखी हैं। गिरे हुए, अवनति में पड़े और पिछड़े लोगों का कष्ट देखकर मन में पीड़ा होती है। यह पीड़ा ही घनीभूत होकर घृणा में भी बदल जाती है। जो लोग दुःखी, दरिद्रों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें दुःखीजनों से बैर है। इसका कुल कारण इतना ही है कि उनके मन में होने वाली पीड़ा घनीभूत होकर घृणा में बदल गयी है। शरीर में लगे घावों को देखकर, उसकी सड़न, बदबू, पीव और मवाद देखकर भी आँखें फेर लेने को जी चाहता है। पर इसीलिये तो लोग उस अंग को कष्ट नहीं देते। यह नाक, भौं सिकोड़ना तो इसी बात का प्रतीक है कि वह स्थिति सहन नहीं हो रही है, उसे देखने का साहस नहीं जुट पा रहा है।

शरीर के सड़े हुए घाव की चिकित्सा करना जिस तरह हम आवश्यक समझते हैं, उसी तरह वह भी आवश्यक है कि समाज में जहाँ कहीं भी कष्ट और पीड़ा दिखाई दे, उसके निवारण का भी उपाय करें इसीलिये शास्त्रकार ने दुःखीजनों के प्रति करुणा का दृष्टिकोण अपनाने का निर्देश दिया है। शरीर के किसी अंग विशेष में पीड़ा होने पर हाथ, आँखें, मस्तिष्क और पाँव जिस तरह उसे दूर करने में लग जाते हैं। उसी प्रकार दुःखी लोगों की सेवा-सुश्रूषा में भी तत्परता बरतनी चाहिए। जुगुप्सा करने और नाक, भौं

सिकोड़ने से तो हमारे चित्त में भी वह अवसाद निःसृत होकर आ जाता है। जबकि कष्ट निवारण के लिए किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप हार्दिक संतोष अनुभव होता है।

अपने आस-पास दृष्टि डालने पर ऐसे लोग भी दिखाई पड़ते हैं—जो प्रगति के लिए प्रबल प्रयत्न करने में जुटे हुए हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं—जो समाज के लिए अपनी शक्तियों और क्षमताओं का उपयोग करने में प्रवृत्त हैं। उनके प्रयासों को सराहनीय मानकर प्रमुदित होना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना एक ऐसा गुण है जो अंधकार के वातावरण में भी आशा की ज्योति जलाता है। संसार में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी। ईमानदार लोग भी हैं तथा बेईमान भी। इन दोनों तरह के लोगों में से किसी भी एक वर्ग पर ही दृष्टि गड़ाई जा सकती है और प्रफुल्लित होने के साथ-साथ खिन्न तथा निराश भी हुआ जा सकता है।

यह ठीक है कि दुनिया में बुरे तत्त्व भी हैं, पर इनसे न निराश होने की आवश्यकता है और न ही भयभीत होने की। महर्षि पातंजलि ने दोनों तरह के लोगों के बीच निर्द्वंद्व रहने तथा अच्छाई का सहयोगी बनने की प्रेरणा देते हुए कहा है—'अच्छाइयों को देखकर प्रसन्न होओ, उन्हें प्रोत्साहन दो, व बुराइयों की उपेक्षा करो, उन्हें निरुत्साहित करो। अच्छाइयों को देखकर प्रसन्न होने पर यह चिंता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि दुनिया में बुराई बहुत बढ़ गयी है। अच्छे लोगों का जीना भी दूभर हो गया है। ऐसे में किस प्रकार शांत रहा जाए।"

जहाँ भी शुभ दृष्टि रखेंगे वहीं अच्छे तत्त्व जरूर मिल जायेंगे। बुरे लोगों में भी कुछ न कुछ अच्छाइयाँ जरूर होती हैं। उन्हीं का उपयोग कर लोग कुशल संगठनकर्ता बनकर महामानव तक बन जाते हैं और अशुभ दृष्टि से ही सब जगह देखा जाए तो न कहीं आशा बँधती दीखती है और न ही प्रकाश दिखाई देता है। अच्छाई जहाँ भी हो उसे उभारकर सुखप्रद परिस्थितियाँ

निर्मित की जा सकती हैं। यदि बुराई को देख-देखकर ही चिंतित होते रहा जाए तो जो थोड़ी-बहुत संभावना रहती है वह भी जाती रहती है।

परिस्थितियों के प्रति परिष्कृत और यथार्थ परक दृष्टिकोण तथा समाज में संपर्क के प्रति मैत्री करुणा, मुदिता उपेक्षा की नीति अपनाने के जो भी परिणाम हों पर व्यक्तिगत रूप से अशुभ की, उपेक्षा और शुभ को ग्रहण करने की नीति अपना मानसिक संतुलन सुस्थिर ही रखती है। मानसिक संतुलन की यह स्थिरता मस्तिष्कीय क्षमताओं को न केवल उन्नत परिष्कृत करती है वरन् जीवन के सभी पक्ष-पहलुओं को विकसित करती है। इस रीति-नीति को अपनाकर ही कोई व्यक्ति अपने आपको सही अर्थों में प्रफुल्लित, आनंदित रह सकता है और सर्वतोमुखी प्रगति कर सकता है।

❑ ❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा